संस्थापक

शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श

असग़र वजाहत

संपादक

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / चंचल चौहान

संपादन सहयोग

कांतिमोहन 'सोज़'

रेखा अवस्थी

जवरीमल्ल पारख

संजीव कुमार

हरियश राय

बली सिंह

कार्यालय सहयोग

मुशर्रफ़ अली

इस अंक की सहयोग राशि

साठ ₹पये

(डाक ख़र्च अलग)

संपादकीय कार्यालय

ख़सरा नं0 258 , लेन नं0 5, चंपा गली, वेस्ट एंड रोड,

सैदुल्ला जाब, (साकेत मैट्रो के पास)

नयी दिल्ली-110050

Email : jlsind@gmail.com

Website : www.jlsindia.org

Mobile : 9818859545, 9818577833

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया

ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं

जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

करोना-काल और पूंजीवादी संकट पर केंद्रित अंक

वर्ष 34 अप्रैल-जून 2020

अनुक्रम

संपादकीय / 3

जन्मशती स्मरण : फणीश्वर नाथ रेणु

आंचलिकता और *मैला आंचल* : नित्यानंद तिवारी /5

कोरोना काल : प्रवंचनाओं के संदर्भ

कोविड-19 : उपभोग और उत्तर-पूंजीवादी दुनिया की आहटें : आदित्य निगम / 13

राहत पैकेज का सच और नव-उदारवाद की अंधी गली : प्रभात पटनायक / 19

कोविड-19 का दौर और श्रमिक वर्गीय आंदोलन : जे. एस. मजूमदार / 25

कोरोना-काल में पूंजीवाद : संकट बनाम अवसर : जवरीमल्ल पारख / 33

महामारी की बढ़ती मार और आत्मनिर्भरता का फ़ासीवादी महा झूठ : राजेंद्र शर्मा / 42

कविता-ग़ज़ल

दो कविताएं : विजय कुमार / 48

दो कविताएं : सुभाष राय / 59

दो कविताएं : मुकेश कुमार / 63

सिर्फ़ मज़दूर नहीं मरते : कुंदन सिद्धार्थ / 65

क्या तानाशाह जानते हैं : देवेश पथ सारिया / 67
दो कविताएं : ज्योति रीता / 69
तल्ख़ मौसम : अशोक 'अंजुम' / 72

उर्दू नज़्म

बाबरी मस्जिद की शहादत : आनंद मोहन गुलज़ार देहलवी / 73
फ़ैज़ान और फ़्लॉयड : एस एम शाहिद / 76

कोरोना काल : तबाही के मंज़र

कोरोना और किसान : दूबरे के लिए बस आषाढ़ ही आषाढ़ : बादल सरोज / 79
कोरोना काल में लुटा दीं कोयला खानें : गिरीश मालवीय / 83
कोविड काल : बहुजनों के लिए आफतकाल : भंवर मेघवंशी / 85
महामारी में दलित : गुलाब सिंह / 88
विषैली पितृसत्ता : भाषा सिंह / 91
कोविड 19 : पत्रकारिता से क्यों ग़ायब हैं सवाल : प्रमोद रंजन / 96

कहानी

लॉकडाउन : प्रह्लादचंद्र दास /103

पुस्तक चर्चा

आईना साझा सच्चाइयों का : रश्मि रावत / 111

साक्षात्कार

असग़र वजाहत से बातचीत : नंद भारद्वाज / 118

संपादकीय

मोदी सरकार को जनवरी 2020 से ही यह जानकारी थी कि चीन के वुहान प्रांत में एक ऐसा वायरस फैल रहा है जो पूरी मानवजाति को अपनी चपेट में लेने वाला है। फिर भी इस सरकार ने एहतियातन कोई क़दम नहीं उठाये, ठीक इसके विपरीत अमरीकी राष्ट्रपति के स्वागत में सरकार लगी रही और दिल्ली के चुनाव के ऐन मौक़े पर अपने राजनीतिक एजेंडे के तहत दिल्ली में दंगा कराने तथा मध्यप्रदेश में विपक्षी विधायकों की ख़रीद-फ़रोख़्त में भाजपा मशगूल रही। फिर किसी तैयारी के बग़ैर ही देशव्यापी स्तर पर औचक तालाबंदी घोषित कर दी। महामारी से निपटने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्यसेवा का बुनियादी ढांचा सुदृढ़ करने के बजाय पुलिस जवानों की बर्बरता के भरोसे लॉकडाउन लागू किया गया। स्वास्थ्यसेवा के बुनियादी ढांचे की सरकारी तैयारी, केरल और दिल्ली को छोड़कर, लगभग सभी राज्यों में कमज़ोर रही है, राज्यों के सरकारी अस्पतालों का हाल सभी जानते हैं।

सर्वाधिक चिंता की स्थिति यह है कि केंद्र सरकार इस महामारी से निपटने के बजाय अपने विरोधियों को पकड़ने में ज़्यादा मुस्तैदी दिखा रही है। 14 अप्रैल को गौतम नवलखा और आनंद तेलतुम्बडे की गिरफ़्तारी के बाद से दिल्ली में नागरिकता संशोधन क़ानून का विरोध करने वाले कार्यकर्ताओं की ताबड़तोड़ गिरफ़्तारियां हुईं। सफ़ूरा ज़रगर समेत सभी कार्यकर्ताओं पर यू ए पी ए (ग़ैरक़ानूनी गतिविधि निरोधक अधिनियम) थोपा गया, जबकि यह क़ानून आतंकवाद से निपटने के लिए बनाया गया था। दिसंबर '19 में देशभर में, नागरिकता संशोधन क़ानून के विरुद्ध उभरे विशाल जनआंदोलन और शाहीनबाग़ जैसी लहर से बौखलाये भाजपा नेताओं ने दिल्ली के चुनाव के दौरान पूरा सांप्रदायिक उन्माद फैलाया, वे नेता तो छुट्टा घूम रहे हैं, मगर शांतिपूर्वक आंदोलन करने वाले मुस्लिम कार्यकर्त्ताओ को चुनचुन कर गिरफ़्तार किया गया है। तीन महीने की गर्भवती सफ़ूरा को 72 दिन बाद मेडिकल आधार पर 26 जून को सशर्त ज़मानत मिली है। उनको लांछित करते हुए कितनी अश्लील टिप्पणियां कपिल मिश्रा और बीजेपी आईटी सेल ने कीं, यह जगज़ाहिर है। स्त्री सम्मान की रक्षा में संविधान प्रदत्त क़ानून को नज़रअंदाज़ कर रही दिल्ली पुलिस की नाकामी भी सबके सामने है। इतनी अधिक संख्या में महिलाओं की गिरफ़्तारी बीजेपी की महिलाविरोधी मानसिकता का नमूना है। मुस्लिम महिलाओं और पुरुषों की गिरफ़्तारी के बाद अब अनेक मानवीय और लोकतांत्रिक अधिकार कार्यकर्ताओं तथा राहत कार्य करने वालों पर भी दिल्ली पुलिस, दंगा भड़काने का आरोपपत्र दाख़िल कर रही है, 'पिंजड़ा तोड़' की दो महिला संस्थापकों को गिरफ़्तार भी कर चुकी है। दंगे में ज़ख़्मी लोगों के इलाज में लगे रहे एक मुस्लिम डॉक्टर तक को हिरासत में लेने की साज़िश चल रही है।

इन एकतरफ़ा कार्रवाइयों के विरोध में विपक्षी दलों के वक्तव्यों, ख़तोख़िताबत, हस्ताक्षर अभियान या ऑन लाइन धरना-प्रदर्शन का कोई संज्ञान नहीं लिया जाता। लोकतांत्रिक मूल्यों के ख़ात्मे पर आमादा मोदी सरकार फ़ासीवाद का रास्ता अपना चुकी है. मीडिया ख़रीदा जा चुका है। अधिकांश मीडिया चैनल सरकारी विज्ञापनों पर आश्रित हैं, ये गोदी चैनल मोदीमय हैं। विपक्ष की आवाज़ें पूरी तरह से दबा दी गयी हैं। अपनी हर नाकामी का ठीकरा विपक्ष पर फोड़ना मोदी सरकार की आम आदत हो गयी है। अभिव्यक्ति की आज़ादी, संगठन चलाने की आज़ादी तथा सरकारी नीतियों, क़ानूनों का विरोध करने की संवैधानिक आज़ादी कुचल दी गयी है। सिर्फ़ उत्तर प्रदेश में ही 55 पत्रकारों को या तो गिरफ़्तार कर लिया गया है या उनके ख़िलाफ़ मुक़दमे दायर कर दिये गये हैं। वाराणसी में एस सी / एस टी एक्ट के तहत एक महिला पत्रकार के ख़िलाफ़ दर्ज मुक़दमा एकदम ताज़ातरीन है।

फिर भी इस दौर में अनेक पत्रकार और लेखक स्वतंत्र लेखन या निष्पक्ष पत्रकारिता के ख़तरे उठा रहे हैं। बीजेपी के आईटी सेल एवं अंधभक्तों की धमकियां, गालियां वे झेल रहे हैं। कोरोना के नाम पर वातावरण ऐसा बनाया जा रहा है कि शासन-प्रशासन की ज़्यादतियों या नाकामी के ख़िलाफ़ कोई न तो बोल सके और न कोई संगठित कार्रवाई हो सके। मोदी सरकार ने 'अहं ब्रह्मास्मि' का 'मोड' अपना लिया है, 'कण-कण में भगवान' सिद्धांत को नहीं मानती। इसीलिए देश के शासकों को जनतांत्रिक चेतना से लैस नागरिक नहीं, सिर्फ़ अंधभक्त और ग़ुलाम चाहिए।

मोदी सरकार की तरह, चुनाव आयोग ने भी लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली का परित्याग कर दिया है। सभी राजनीतिक दलों के साथ बैठक किये बिना सत्ता के इशारे पर वह मनमाने फ़ैसले ले रहा है। अदालतें चुप हैं। आंख और मुंह पर पट्टी बांध ली है। कहीं कोई जज पट्टी खोल ही लेता है तो उसका तबादला हो जाता है या इनकम टैक्स फ़ाइल खुल जाती है। सरकारी इशारों पर निर्णय देने वाले जज को रिटायर होने पर राज्य सभा की सदस्यता, किसी जांच कमेटी के जज या राज्यपाल का पद बख़्श दिया जाता है। ख़स्ताहाल स्वास्थ्य व्यवस्था, ढहती अर्थ व्यवस्था, आसमान छूती बेरोज़गारी, बंद होते उद्योग धंधे, चौपट बाज़ार-दुकानदारी जैसे मुद्दों से ध्यान हटाने के लिए ताली-थाली, दिया बाती के टोने टोटके इस्तेमाल किये जा रहे हैं। मन की बात में, हर ऐलान में नये नये जुमले रोज़ उछाले जा रहे हैं। जनता को मूर्ख बनाने के लिए खोखले राहत पैकेजों की घोषणा भी यदाकदा होती रहती है, मगर राहत चहेते इज़ारेदारों के अलावा किसी को भी नहीं मिल रही। इस अंक में इन सवालों पर हम पर्याप्त सामग्री दे रहे हैं।

कोरोना काल में दो महीनों तक 8 से 14 करोड़ पैदल चले मज़दूरों और बेरोज़गारों को भोजन-पानी या सवारी वाहन न दे पाने वाली इस सरकार के मज़दूर और ग़रीबविरोधी रुख़ को पूरी दुनिया ने साफ़-साफ़ देखा और जाना है। लगभग 742 बेबस बेसहारा पुरुष-स्त्री कामगार, बच्चे-बूढ़े, भूख, बीमारी या सड़क-रेल दुर्घटनाओं में जान गंवा बैठे। 16 मई को वित्तमंत्री सीतारमण ने, ग़रीबों को नक़दी राशि देने की विपक्ष की मांग ठुकरा कर, केवल तीन महीने के लिए प्रति व्यक्ति 5 किलो चावल या गेहूं और एक किलो चना देने की घोषणा की थी। यह अनाज भी अभी तक कई राज्यों में या तो वितरित ही नहीं हो पाया या पहुंचा ही नहीं है। अब प्रधानमंत्री ने इसी नाकाफ़ी योजना को, बिहार चुनाव में जीत की मंशा से, दिवाली-छठ तक बढ़ाने की घोषणा, 30 जून को राष्ट्र के नाम संबोधन में, की, जबकि तालाबंदी की वजह से आसमान छूती बेरोज़गारी की परिस्थितियों में ज़्यादा अनाज, नक़द बेरोज़गारी भत्ता और रोज़गार गारंटी देने की ज़रूरत है।

यह वर्ष महान कथाशिल्पी और लोकतंत्र के सच्चे समर्थक एवं आंदोलनकर्ता फणीश्वर नाथ 'रेणु' का जन्मशती वर्ष है। *नया पथ* का यह अंक फणीश्वर नाथ 'रेणु' को समर्पित है। उनका लेखन पूरे हिंदी-उर्दू क्षेत्र को निरंतर जन-पक्षधर होने की प्रेरणा देता रहेगा। उनकी अन्यतम कृति, *मैला आंचल* पर हम नित्यानंद तिवारी का आलेख दे रहे हैं जिसमें उन्होंने आज की नयी परिस्थितयों में इस उपन्यास का नया पाठ प्रस्तुत किया है।

कोरोना काल के इस कठिन समय में अनेक लेखक, बुद्धिजीवी, संस्कृतिकर्मी, फ़िल्म निर्देशक, अभिनेता इस दुनिया से अलविदा हो गये।, हम दिवंगत शशिभूषण द्विवेदी, नंदकिशोर नवल, वीरेंद्र कुमार बरनवाल, आनंद मोहन गुलज़ार देहलवी, मुज्तबा हुसैन, इरफ़ान, ऋषि कपूर, बासु चटर्जी, ज़रीना हाश्मी, योगेंद्र सिंह, हरि वासुदेवन, उषा गांगुली, शांति स्वरूप बौद्ध, कैलाश चंद चौहान, एर्नेस्तो कार्देनाल के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

जन्मशती स्मरण : फणीश्वर नाथ रेणु

आंचलिकता और *मैला आंचल*

(आंचलिकता साहित्यिक जुगत/डिवाइस नहीं, वास्तविकता है)

नित्यानंद तिवारी

मैला आंचल के नीचे कोष्ठक में लिखा है, 'एक आंचलिक उपन्यास'। ठीक जैसे सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक का प्रयोग उपन्यास की विषय-वस्तु का संकेत करने के लिए होता है। 'आंचलिक' शब्द का प्रयोग पहली बार `रेणु' ने *मैला आंचल* के लिए किया। धर्मवीर भारती जैसे रचनाकार ने एक चुटकला गढ़कर एक कल्पित विद्यार्थी से उपन्यास के प्रकारों में कहा, 'दो प्रकार भूल गये तुम। आंचलिक और धारावाहिक।' (*श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां* के संपादकीय में राजेंद्र अवस्थी ने उद्धृत किया है)

उपन्यास की पर्याप्त प्रशंसा करते हुए भी रामविलास शर्मा ने उसे प्रकृतवादी कहा था। नेमिचंद्र जैन ने उसे नूतन शिल्प प्रयोग माना और ताज़गी के बावजूद उसमें प्रौढ़ता का अभाव पाया। यह भी कहा गया कि उसमें भाषा की 'भंगिमाओं' और `टोन' से, यथार्थवस्तु को कमज़ोर करके, चमत्कृत करने का काम लिया गया।

ये सारी आलोचनात्मक टिप्पणियां साहित्य के हलक़े और अनुशासन से उभरी हुई हैं। लेकिन ज़्यादातर ऐसा होता है कि जब कोई युगांतरकारी रचना प्रस्तुत होती है तो वह साहित्यिक कारणों से नहीं, समाज और जीवन में ऐतिहासिक प्रक्रिया में नयी उभरी वास्तविकताओं के कारण होती है। जब उस वास्तविकता को कोई द्रष्टा रचनाकार पहचानकर सृजनशील होता है तो साहित्य की अंतर्वस्तु और उसके रूपबंध में भी नवीनता प्रस्तुत हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह रचनाकार और उसकी रचना विरोध का शिकार होती है। इसके सबसे बड़े उदाहरण प्रेमचंद हैं। नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय भी उनके कटु आलोचक रहे। अज्ञेय ने तो अपने एक लेख, `संघर्ष का रचनात्मक उपयोग' में तर्क दिया था कि दो महायुद्धों के बीच के रचनाकार तो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में ही फंसे रहे और जीवन की समग्र अवस्थिति के बोध से वंचित रहे। केवल रवींद्रनाथ टैगोर, जैनेंद्र और अज्ञेय समग्र जीवन अवस्थिति के बोध के कारण संघर्ष का रचनात्मक उपयोग कर सके। यानी एक ओर जीवन की समग्र अवस्थिति का बोध और दूसरी ओर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों में जनता द्वारा किया जाने वाला संघर्ष--यह दो तरह की `समझ' उस समय काम कर रही थी। पहली `समझ' ऐतिहासिक प्रक्रिया में जीवन के तथ्यों के विकास के साथ साहित्य की अंतर्वस्तु और `रूपबंध' को उभरते हुए देखती थी। उसकी सृजनशीलता की प्रकृति और पद्धति इसी प्रक्रिया में चरितार्थ होती थी।

दूसरी `समझ' आत्मवादी अथवा व्यक्तिवादी दर्शन में सृजनशीलता का उभार पाती थी। अज्ञेय ने लिखा था, `कविता कविता में से निकलती है।' इसके और निहितार्थ चाहे जो हों लेकिन इतना तो साफ़ है कि कविता के फ़ार्म से कविता और कथा-नाटक के फ़ार्म से कथा और नाटक सृजित होते हैं। इस `समझ' में संघर्ष की प्रकृति और पद्धति और कुछ हो या न हो, सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों के प्रति उदासीन या सृजनशीलता के संबंध में गौण होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि `समझ' के ये दोनों रूप किसी न किसी रूप में आज भी चल रहे हैं।

प्रेमचंद के बाद फणीश्वरनाथ `रेणु' को भी `समझ' के इस भेद का हमला, अपेक्षाकृत कम परिमाण में ही सही, झेलना पड़ा। हमले का एक महत्वपूर्ण मुद्दा `आंचलिकता' है। इस लेख के आरंभ में उसका उल्लेख किया जा चुका है। इस संदर्भ में शीर्षक का हिस्सा बनकर मैंने लिखा है, `आंचलिकता साहित्यिक `जुगत'/डिवाइस नहीं, वास्तविकता है।' नयी वास्तविकता की पहचान है।

मैं बहुत संक्षेप में `पहचान' को एक `पारिभाषिक' और `अवधारणापरक' पद के रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूं। हिंदी-साहित्य के इतिहास से ही उदाहरण दे रहा हूं। भक्त कवियों ने सत्य को पहचाना था। मैं सत्य के स्वरूप पर नहीं, उसकी `पहचान' की क्रिया पर बल दे रहा हूं। यानी पहचाने बिना सत्यार्थ की प्रतीति भ्रामक हो सकती है। यह `पहचान' जीवन में भाव से कुछ अधिक को धारण करती है। या उस पहचान के आधार पर भाव को पुनर्परिभाषित करती है। छायावाद में भी जिज्ञासा के द्वारा पहचानने की ही पीड़ा है। इन दोनों कालों के साहित्य में मुख्य समस्या `स्वाधीनता' की ही है; चाहे वह आध्यात्मिक हो या सामाजिक-राजनीतिक। एक ख़ास तथ्य यह भी कि दोनों साहित्य आंदोलन से जुड़े हुए हैं। पहचान के कारण नये जीवन-तथ्य को समझने में आलोचनात्मक विवेक की भूमिका भी प्रस्तुत हो जाती है। यानी `भाव' पर लिखा गया साहित्य जीवन को अपर्याप्त रूप से ग्रहण कर पाता है।

गांव सामान्यतया प्रथानुगामी होता है, वह जातिवादी भी होता है। प्रेमचंद ने जिस गांव को पहचाना उसका प्रतिनिधि मनुष्य होरी है। वह प्रथानुगामी होने के साथ ऐसा जातिवादी है जो जाति बाहर (बिरादरी बाहर) कर देने से अपनी सारी सार्थकता खो देता है। जब पंचायत उसे जाति में मिलाने के लिए दंड लगाती है, वह खलिहान से अनाज ढो-ढोकर पंचायत में देता जाता है और बावजूद धनिया के विरोध के वह कुछ नहीं सोचता। मैंने अब तक जाति में मिलने के लिए अपना सर्वस्व गंवाकर, अपना भविष्य गंवाकर, पूरे शरीर की नस-नस में प्रसन्नता और सार्थकता की अनुभूति करने वाला कोई `आदमी' साहित्य में नहीं देखा था।

इसके अलावा होरी की ज़िंदगी से जुड़ी `घटनाओं' के भीतर न जाने कितने नाटकीय तनावों के जाल बने हुए हैं--उन तनावों के जाल में कथानक का उभार देखना, लगता है, प्रेमचंद ने पहली बार पहचाना। गांव का `प्रथानुगामी जाति मनुष्य' और `घटना' - जो कहानी में सिलसिला भर नहीं हैं, कथानक बनाते हैं। क्योंकि ये सिर्फ़ क्रम नहीं हैं, उनके भीतर अंतर्गतिशीलता है| यह अंतर्गतिशीलता ही कथानक है|

इसी प्रसंग में मैंने लिखा है कि प्रेमचंद ने आधुनिक अर्थ में कथानक की पहचान की थी। आधुनिक युग की सभी युगांतरकारी रचनाओं ने किसी न किसी प्रकार की वास्तविकताओं को ख़ास तरह से पहचाना है।

`रेणु' ने `अंचल' और `अंचल मनुष्य' की पहचान की है। उनका मनुष्य गांव का तो है लेकिन वह ख़ाली गांव से अधिक है। अंचल, गांवों के समुच्चय रूप में एक ऐसी जगह है जो एक ज़बान है, एक जगह है और एक संस्कृति है। ज़बान, संस्कृति, टोन और लय से मूर्त `स्थान' `रेणु' ने पहचाना। इसीलिए उन्होंने मैला आंचल की भूमिका में लिखा था, `कथानक है पूर्णिया'। `स्थान' को कथानक की धारणा के रूप में पहचानना कथानक की क्रांतिकारी पहचान है।

एक और बात का उल्लेख करना मुझे उचित लगता है कि ये दोनों रचनाकार भी आंदोलन से जुड़े हुए हैं। एक झीने बोध के स्तर पर भक्तिसाहित्य और छायावादी साहित्य के क्रम में इन चारों में किसी न किसी स्तर पर ऐतिहासिक धारा में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में साहित्य फंसा नहीं रहा, बल्कि उसने उसकी भूमिका को स्वीकार किया।

(2)

मैला आंचल स्वाधीनता संग्राम की स्मृतियों से भरा हुआ है। उसके लेखक `रेणु' सक्रिय रूप से राजनीति से जुड़े थे। राजनीति के प्रति उनके मन में गहरा मानवीय विश्वास था, लेकिन पार्टी राजनीति की विकृतियों से वे बुरी तरह आहत थे। कालीचरन के अंतिम दिनों की यातना में उनकी अपनी ही यातना थी। ख़ैर, सन् 1947 में स्वाधीनता मिल जाने के बाद आधुनिक अर्थ में धारणा रूप `नेशन' को पाया जा चुका था। अब उस `नेशन' को मात्र धारणा से ठोस वास्तविकता में बदलना था। नेहरू की अगुवाई में सरकार बन चुकी थी। नेहरू सिर्फ़ राजनीतिक नेता ही नहीं थे, वे बड़े राजनीतिक चिंतक (दार्शनिक) भी थे। उन्होंने अपनी योग्य राजनीतिक टीम के साथ राष्ट्र-निर्माण के लिए विकास की योजनाओं को बनाना शुरू किया। उस समय जो हिंदुस्तान का नक्शा उभरा, उसके कई पहलू थे। सबसे पहले दिखायी पड़ा कि ज़मीन (खेती) आमदनी का सबसे बड़ा ज़रिया है और जो लोग ज़मीन जोतते हैं, ज़मीन उनकी नहीं है। समाज पिछड़े-आदिवासी, अस्पृश्य और ग़रीब तथा अगड़े और अपेक्षाकृत अधिक अधिकार और संपत्तिवान लोगों वाली विषम स्थितियों में बंटा हुआ है। इसके अलावा देश के काफ़ी इलाक़े विकास की प्रक्रिया से एकदम से छूटे हुए हैं।

`ज़मीन उसकी जो ज़मीन को जोते।' यह वाक्य किसानों के लिए प्रकाश से भरा हुआ था। पहला निर्णय कि ज़मींदारी प्रथा का अंत हो।

समाज के दलित और पिछड़े तबक़ों के लिए विकास के लिए आरक्षण की व्यवस्था हो।

वे इलाक़े जो पिछड़ेपन के कारण अलग-थलग टापू बन गये हैं, उनमें भारी उद्योग लगाये जायें।

यही तीन तथ्य अंचल बनाते हैं। उनकी विशेषताएं हैं--वे एक `जगह' हैं। वे एक `ज़बान' हैं। एक संस्कृति हैं।

प्रतिभाशाली इतिहासकार प्रो. आदित्य निगम ने इस धारणा को बड़ी स्पष्टता से प्रस्तावित किया है। प्रो. निगम ने अपने पूरबिया नौकर माताबदल का एक कथन उद्धृत किया है : `बाबूजी अबके बार हम `देस' जाइब। पार साल नहीं गये रहे ना! अच्छा नाहीं लागत है परदेस मा।' इसके बाद उनकी टिप्पणी है : `इन दो शब्दों के पीछे छिपी हैं दो अलग दुनियाएं।...एक दुनिया उस रोज़ाना जिये जाने वाले आम इंसान की है और दूसरी इलीट की जो हिंदुस्तान को पश्चिमी राष्ट्रों की तर्ज़ पर एक मज़बूत केंद्रीकृत राष्ट्र-राज्य बनाना चाहता है। इन दोनों का तसव्वुर एक दूसरे से बिलकुल जुदा है। `देस' एक जगह है--अपनी जगह। एक देसी जगह जहां माताबदल पलता है, बड़ा होता है और जिसका हवा-पानी उसके रोम-रोम में बस गया होता है। `देस' एक ज़बान भी है--एक संस्कृति जिसे माताबदल जीता है। `देस' को इतिहास की ज़रूरत नहीं होती। वह मिथकों में जी लेता है, अलग-अलग फ़िरकों के अपने अलग -अलग मिथक। उसे इन तमाम फ़िरकों को एक समरस इकाई में ढालने की ज़रूरत भी कभी पेश नहीं आती। लिहाज़ा मिथकों में जीकर भी वह `देश' की उस ज़रूरत से आज़ाद होता है जो इन मिथकों को ऐतिहासिकता प्रदान कर एक राष्ट्रीय इतिहास गढ़ने की ओर ठेलती है।'('पश्चिमी आधुनिकता का एक मनहूस तोहफा', *बहुवचन*, जुलाई-सितंबर 2001, पृ. 284-85)

`देस' और `देश' की यह एक भिन्न पहचान है जो `ऐतिहासिक वैदुष्य' का अलग विमर्श प्रस्तावित कर सकता है। इस समय मैं उस पर नहीं जाऊंगा। `देस' एक `जगह' के साथ-साथ एक `ज़बान' और एक संस्कृति भी है जिससे आंचलिकता के रग-रेशे बनते हैं। इस रग-रेशे के बारे में नागार्जुन ने लिखा है। पहले वे `रेणु' के बारे में लिखते हैं और फिर उनकी रचनाओं के बारे में-

`रेणु' को मैथिली और भोजपुरी के पचासों लोकगीत याद थे। सारंगा, सदाबृज, लोरिक आदि लंबी-लंबी लोकगाथाएं गाते हुए `रेणु' को जिन्होंने एक बार भी सुना है, वे उन्हें कभी नहीं भूल सकेंगे। लोकगीत, लोककला आदि जितने भी तत्त्व लोक-जीवन को समग्रता प्रदान करते हैं, उन सभी का समन्वित प्रतीक थे फणीश्वर नाथ `रेणु'।' नागार्जुन आगे लिखते हैं-

`ढेर के ढेर प्राणवंत शब्द-चित्र हमें गुदगुदाते भी हैं और ग्रामीण जीवन की विसंगतियों की तरफ़ भी हमारा ध्यान खींचते चलते हैं। छोटी-छोटी ख़ुशियां तुनकमिज़ाजी के छोटे-छोटे क्षण, राग-द्वेष के उलझे हुए धागों की छोटी-बड़ी गुत्थियां, रूप-रस-गंध-स्पर्श और नाद के छिटपुट चमत्कार...और जाने क्या-क्या व्यंजनाएं छलकी पड़ती हैं `रेणु' की कथाकृतियों में।' (*नागार्जुन रचनावली*, खंड 6, पृ. 281)

`एक जगह', `भाषा', `संस्कृति', `भंगिमाएं' और `लोक जीवन' के बिना आंचलिकता परिभाषित नहीं हो सकती। `रेणु' के गांव, अंचल इसके बिना नहीं पहचाने जाते। प्रेमचंद के `गांव' के लिए वे लक्षण अनिवार्य नहीं हैं। प्रेमचंद के गांव `औराही हिंगना' जितने पिछड़े और आदिवासी भी नहीं हैं। प्रेमचंद के बारे में आम तौर पर यह भी नहीं लिखा जाता कि वे `लोक जीवन' के कथाकार हैं। प्रेमचंद के गांव और लोग प्रथानुगामी हैं, लेकिन लोक संस्कृति उनके रोम-रोम में इतने गहरी नहीं पैठी है। भाषा की व्यंजनाएं और टोन भी स्थानीयता और मिट्टी की गंध लिये प्रेमचंद में उतनी ज़्यादा नहीं है। प्रेमचंद के गांवों और लोगों में अपेक्षाकृत सादगी अधिक है। जैसे होरी में। `रेणु' के चित्रण में पिछड़ेपन की सादगी के भीतर से `कनक्सन' उभरते हैं। प्रेमचंद में `कनक्सन' नहीं है।

स्व. राजेंद्र अवस्थी ने एक किताब संपादित की थी--*श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां*। उसमें `रेणु' के एक साक्षात्कार का जिक्र है। `रेणु' से प्रश्न किया गया था लोकगीत और लोककथा के बारे में। `रेणु' ने अपने जवाब में कहा था कि बिना लोकगीत और लोककथा के कोई लिखकर दिखा दे तो मान लूंगा। यानी आंचलिकता में सांस्कृतिक तत्वों (जिसका ज़िक्र नागार्जुन ने किया है) की उपस्थिति अनिवार्य है। आंचलिकता बाहर से प्रकाशित होते हुए भी वह बाहरी तत्व नहीं है। जैसे शरीर का रंग रक्त पर निर्भर करता है और रक्त शरीर का आंतरिक तत्व है। प्रेमचंद की रचनाओं में जो गांव है, उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि `लय' की तरह लोक संस्कृति उनमें व्याप्त है।

`रेणु' में यह व्याप्ति है और वही आंचलिकता है। प्रेमचंद `जगह' या `अंचल' को सृजनशील धारणा के रूप में धारण नहीं करते। `रेणु' ऐसा करते हैं, तभी तो उन्होंने *मैला आंचल* की बहुत छोटी-सी भूमिका में एक बहुत छोटा वाक्य लिखा था--`कथानक है पूर्णिया'।

कथानुभव और कथा विन्यास के इतिहास में यह क्रांतिकारी धारणा है, इस पर बात आगे करूंगा।

लेकिन इधर हाल में एक बहुत बड़ी घटना हिंदुस्तान के सामाजिक और आर्थिक इतिहास में घटित हुई है। लॉकडाउन के कारण मज़दूरों का अपने `देस' (माताबदल वाले अर्थ में) की ओर पलायन। `रेणु' की आंख से देखें तो यह घटना हिंदुस्तान की आर्थिक, औद्योगिक गतिविधि का कथानक है। दो चीज़ें और पहचान में आती हैं--(1) अज़हद ग़रीबी और (2) अद्भुत साहस। इसके पहले सोचना भी कठिन था कि बच्चों, गर्भवती स्त्रियों और मोटरी गठरी के साथ 1500-2000 किलोमीटर पैदल जाते मज़दूरों के समूह (ऐसी स्थिति में जब सड़क पर पैदल चलते मज़दूरों पर शासन के प्रहरी पुलिस वाले डंडे मारते हों, खाना नहीं, पानी नहीं, पैर घाव से भर गये हों और वे अपने `देस' मर-खपकर पहुंच जाते रहे। उन मज़दूरों में से जब कुछ के साक्षात्कार लिये गये तो पता चला उनमें सभी जातियों के लोग हैं।

क्या कहा जा सकता है कि मज़दूर, भारतीय समाज और आर्थिक गतिविधियों का कथानक है? ग़रीबी सहनशीलता का नया कथानक, एकदम *मैला आंचल* वाला। इसे क्या स्वातंत्र्योत्तर भारत का *मैला आंचल* की समानांतरता वाला कथानक नहीं कहा जा सकता?

आंचल का मतलब वहां के लोगों का अद्भुत साहस और अज़हद ग़रीबी। इस अंचल में मुख्य रूप से पूर्वी यू.पी., बिहार और झारखंड हैं। यह `जगह' तब से, *मैला आंचल* के ज़माने से आज तक ठीक से पहचानी नहीं जा सकी। विकास की योजना ही रह गयी, ठीक से क्रियान्वित नहीं हुई।

सन् 2020 में विशेष आकस्मिक परिस्थितियोंवश मज़दूरों का महत्व, उनकी अनिवार्यता और उनकी शक्ति पहचानी गयी|

यहां थोड़ा रुककर आप *मैला आंचल* में चित्रित अंचल की ज़िंदगी को देखिए-

`कफ से जकड़े हुए दोनों फेफड़े, ओढ़ने को वस्त्र नहीं, सोने को चटाई नहीं, पुआल भी नहीं! भीगी हुई धरती पर लेटा निमोनिया का रोगी मरता नहीं, जी जाता है। ...कैसे?' (*मैला आंचल*, पांचवां संस्करण, 1967, पृ. 216)

`डॉ. प्रशांत गये थे मलेरिया पर रिसर्च करने, लेकिन वे वैज्ञानिक ही नहीं, आदमी भी थे। उन्हें वहां तरह-तरह की चीज़, दृश्य और स्थितियां दिखायी पड़ने लगती हैं।`

`डॉक्टर पर यहां की मिट्टी का मोह सवार हो गया है। उसे लगता है मानो वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है।`

`आम के पेड़ों को देखने से पहले उसकी आंखें इंसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदों की रोटी पर ज़िंदा रहना है...और ऐसे इंसान? भूखे अतृप्त इंसानों की आत्मा कभी भ्रष्ट नहीं हो या कभी विद्रोह नहीं करे, ऐसी आशा करना ही बेवकूफ़ी है। डॉक्टर यहां की ग़रीबी और बेबसी को देखकर आश्चर्यित होता है।`

`...वहां विटामिनों की क़िस्में, उनके अलग-अलग गुण और आवश्यकता पर लंबी-चौड़ी फ़ेहरिस्त बनाकर बंटवाने वालों की बुद्धि पर तरस खाने से क्या फ़ायदा? मच्छरों की तस्वीर, इससे बचने के उपायों को पोस्टरों पर चित्रित करके अथवा मैजिक लालटेन से तस्वीरें दिखाकर मलेरिया की विभीषिका को रोकने वाले किस देश के लोग थे?'

`बेज़मीन आदमी, आदमी नहीं जानवर है।'

X X X

`डॉक्टर का रिसर्च पूरा हो गया; एकदम कम्पलीट। वह बड़ा डॉक्टर बन गया। डॉक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है...?

`ग़रीबी और जहालत इस रोग के दो कीटाणु हैं।'

X X X

`दरार पड़ी दीवार ! यह गिरेगी! इसे गिरने दो। यह समाज कब तक टिका रह सकेगा?' (*मैला आंचल*, पांचवां संस्करण, 1967, पृ. 217-18)

ग़रीबी और तरह-तरह के जहालत के ढेरों दृश्य इस उपन्यास में भरे पड़े हैं। इसीलिए ऐसे अंचल विशेष रूप से पहचाने गये ताकि उन्हें राष्ट्रीय विकास की धारा से जोड़ा जा सके|

उस वास्तविकता के कई स्तर और पहलू हैं। धर्म की दादागिरी, नैतिकता की दुहाई देकर अन्याय का साथ देने वाली निष्क्रिय राजनीति, और तरह-तरह के अंधविश्वासों में जकड़ा समाज, और इन सबको तोड़ने वाले पावर सेंटर्स इस उपन्यास में लगे हुए हैं।

प्रो. आदित्य निगम ने `देस' और `देश' का फ़र्क़ बताते हुए `देस' यानी `अंचल' की जो धारणा प्रस्तावित की है, अगर उसी माताबदल वाले अर्थ में `अंचल' सीमित हो तो वह सिर्फ़ एक विश्वसनीय दृश्य है; और तब `रेणु' पर प्रकृत होने का आरोप सच हो जायेगा।

लेकिन अगर `विकास' की योजना के तहत पिछड़े इलाक़ों, समाजों, जातियों, ज़मीन और बेज़मीन लोगों की स्थिति को पहचानकर उनमें आधुनिक परिवर्तन करने की विशिष्ट `पहचान' हो तो `आंचलिकता' स्थितिशील नहीं, सृजनशील धारणा हो जायेगी।

`रेणु' की प्रतिभा उन बिंदुओं को पहचानने में है जहां से संप्रदायवाद विरोध, सेक्युलरिज़्म की पक्षधरता, सामाजिक अन्याय और ग़ैरबराबरी के प्रति विरोध भाव उभर सकता है। इसके लिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तौर पर `रेणु' ने राजनीति का इस्तेमाल किया है।

इस तरह पूरी आंचलिकता कई केंद्रों पर संघर्ष करते हुए सृजनशील होकर फूट पड़ती है। उसमें क्रमिक विकास के ढांचे में कथा कहने का यानी आवयविक रूप में कथा-विकास का विशेष प्रयत्न नहीं है। वह ऊपर लिखे गये सृजनशील केंद्रों का समुच्चय है।

कुछ उदाहरणों से मैं इसे स्पष्ट करना चाहता हूं-

(1) उपन्यास का आरंभ होता है, सदियों से सोये हुए गांव (औराही हिंगना) में म्युनिसिपल बोर्ड के एक अस्पताल के बनने से। अस्पताल बहुत बड़ा हस्तक्षेप है। इस कारण गांव की जातिगत, धार्मिक और प्रथानुगामी प्रवृत्तियां उभर आती हैं, जैसे बीमारी को ऑपरेट करके उभारने की कोशिश की गयी हो। जड़ता टूटती है और इलाक़ा हरकत में आ जाता है।

अस्पताल के बनने में एक विशेष प्रसंग उपस्थित होता है। तय होता है कि श्रमदान करके अस्पताल का निर्माण किया जाये। मज़दूर कहते हैं कि `हम तो रोज़-रोज़ मजूरी करके खाते हैं। हम लोग तो बेज़मीन हैं।' मज़दूरों ने यह प्रस्ताव रखा कि `हम लोग आधा दिन बिना मजूरी के श्रमदान कर लें और आधे दिन की मज़दूरी बाबू लोग दे दें तो हम लोगों की रोटी-पानी भी चलती रहे और अस्पताल का भवन भी बन जाये।'

यह समस्या वास्तविक थी। मज़दूरों की रोटी-पानी, अस्पताल का भवन, बाबू लोग और इन सबके बीच `संबंध' गतिशील हो जाता है। लेकिन लबरा सुमिरनदास तहसीलदार से कनबतिया करके इसमें बाबू लोगों की दो जातियों--क्षत्रिय और कायस्थ का `कनक्सन' बता देता है। `संबंध' की जगह निहितार्थी कनक्सन पैदा हो जाता है। इसे ही कहा जाता है, `नैरेटिव'। वह नैरेटिव, वास्तविकता को अपदस्थ कर देता है और झंझट वाला नक़ली संघर्ष पैदा कर देता है। आंतरिक गतिशीलता अवरुद्ध हो जाती है।

(2) दूसरा उदाहरण है धार्मिक मठ का--महंत सेवादास की मृत्यु के बाद महंत कौन बने? सेवादस महंत का चेला था रामदास। इधर कुछ दिनों से लरसिंघ दास मठ पर रहने लगा था। वह लछमी सहित पूरे `मठ' को हथियाना चाहता था।

महंथी तो रामदास को मिलनी चाहिए थी। इस सिलसिले में सारे तथ्य रामदास के पक्ष में थे। लेकिन लरसिंघ दास ने `सभी मठों के ज़मींदार अचारज गुरु' से अपना `कनक्सन' बिठा लिया था।

गांव के सभी लोग जानते हैं कि किसे महंथी मिलनी चाहिए, लेकिन बालदेव जी, जो कांग्रेसी हैं, लछमी से कहते हैं कि `कौठारिन जी, अचारज गुरु तो सभी मठ के नेता हैं। वे जो करेंगे वही होगा। ...किसी के धरम में नाक घुसाना अच्छा नहीं है। तीसरे पहर टीका होगा। हम आवेंगे।' `...तहसीलदार साहब घर में नहीं हैं।...सिंह जी (जो काली टोपी वाले हैं) सुनकर गुम हो गये। खेलावन यादव ने बालदेव जी पर बात फेंक दी।'

इधर अचारज गुरु का नागा साधू-गुंडा लछमी और पूरे मठ को हिंसक ही नहीं, अपने गाली-गलौज से अश्लील जगह बना चुका था।

लेकिन लरसिंघ दास ने अचारज गुरु से `कनक्सन' बिठा लिया था। उसने अपनी महंथी का नैरेटिव तैयार कर लिया था। इधर अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने वाली कांग्रेसी राजनीति ओढ़ी हुई नैतिकता का सहारा लेकर तटस्थ हो चुकी थी। सिंह जी तो ख़ैर काली टोपी वाले थे, वे तो इस `धरम के मामले' में गुम ही हो गये थे। `लछमी, ...सतगुरु हो! कोई उपाय नहीं।'

लछमी निरुपाय है।

तभी कालीचरन आता है। लछमी कहती है, `कौन, कालीचरन बबुआ।' और वह रो-रोकर सब सुनाती है।

तीसरे पहर बैठक के बाद सभी लोग काग़ज़ पर दस्तख़त करते हैं। इसी बीच कालीचरन कहता है, `अचारज गुरु, आप गांव के लोगों को उल्लू समझते हैं।' बालदेव समेत सभी बड़े लोग कालीचरन को डांटते हैं। नागा साधु कालीचरन को गाली देता है।

कालीचरन नागा साधु जी को कहता है, `चुप रह बदमास!'

`पकड़ो सैतान को, भागने न पावे, मारो, नागा बाबा की गुंडई मार खाकर हवा हो गयी। गांव के कुत्तों ने उन्हें खदेड़ लिया।'

लरसिंघ दास दास का नैरेटिव टूट गया, वह वास्तविक में बदल गया। कभी-कभी हिंसा भी सृजनशील हो उठती है।

(अक्सर मुझे ऐसे अवसर पर नीतीश बाबू की याद आती है। उन्होंने कितनी बेशर्मी से कहा था कि मोदी के अलावा आज किसने नैरेटिव बनाया है और वे मोदी जी की गोदी में बैठ गये। उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन की कमाई, वास्तविक राजनेता की छवि, सत्ता लालच में मोदी के मातहत गिरवी रख दी।)

उपन्यास में ऐसे बहुत स्थल हैं जो `कनक्सन' से बने हैं (संबंध से नहीं)। उन्हें `रेणु' की कहानी ने तोड़ने का काम किया है।

प्रेमचंद की कथा `संबंध' से बनी थी। इसलिए उनकी घटनाओं के सिलसिले में अंतःगतिशीलता थी। `रेणु' की कहानी में `कनक्सन' है, अंतःगतिशीलता लुप्त है। उन्होंने उसे तोड़ा और इसलिए जिस `जगह' पर कहानी हो रही है, उस `जगह' को ही `कथानक' बना दिया। हम `रेणु' के साक्ष्य पर कह सकते हैं कि `नैरेटिव' चतुराई से बनाये जाते हैं, वास्तविकता को थोपकर सत्ता के पक्ष में।

प्रेमचंद के लिए ज़रूरी था कि घटना को पहचानें। घटना में कई भीतरी पहलू अंतःसंबंधित होते हैं और वही कथानक बनाते है। `रेणु' के लिए ज़रूरी था कि कहानी को पाने के लिए ज़रूरी होगा यह जानना कि कैसे नैरेटिव बनाकर वास्तविकताएं थोपी जा रही हैं, उनके लिए मोर्चा की रणनीति बनाकर उन्हें तोड़ा जाये।

यानी `जगह' को जैसे हेलीकॉप्टर से देखा जाये तो उसमें ऐसे बहुत पावर सेंटर दिखें।

इन्हीं बिंदुओं से *मैला आंचल* की `ज़मीन' कंपोज़ीशन का फ़ार्म ग्रहण कर लेती है। *मैला आंचल* वह कंपोज़ीशन जैसा फ़ार्म है।

एक उदाहरण और देना चाहूंगा। कालीचरन (ओ.बी.सी.) और मंगला (शिड्यूल कास्ट) एक साथ राजनीति करते हैं। और प्रेम करते हैं। प्रवाद फैलाया जाता है लेकिन जब कालीचरन को इस प्रवाद के बारे में बताया जाता है कि वह जाति विरुद्ध काम कर रहा है, तब कालीचरन कहता है--`जाति! जाति अब गांव में है कहां? देखते नहीं खेलावन यादव यादवों की ही ज़मीन हड़प रहा है। अब तो सिर्फ़ दो जातियां हैं, अमीर और ग़रीब।'

मैला आंचल में जातिवाद इतने चरम पर है कि उपन्यास में कहा गया है, `अब तो सभी एमेले लोगों को चाहिए कि अपनी-अपनी टोपी पर अपनी जाति लिखा दें।'

यानी जातिवाद और सत्ता का गठजोड़ इतना कड़ा हो चुका है कि उसके बिना सत्ता पायी नहीं जा सकती।

जातिवाद और सत्ता राजनीति का नया गठजोड़ और इसका नैरेटिव चरम पर। सत्ता, जनता और राजनीति के बीच संबंध है। और जाति तथा राजनीति के बीच कनक्सन है। इस पर भी प्रहार करते हुए कालीचरन जब कहता है कि अब तो दो ही जातें--अमीर ग़रीब हैं, तब वह जाति और सत्ता को लेकर जो नैरेटिव बना है, उसी के कनक्सन को तोड़ता है।

कालीचरण, `अंचल' से उभरा ऐसा राजनीतिक कार्यकर्ता है जो अपने, जनता और राजनीति के बीच वास्तविक संबंध कभी नहीं भूलता। उसकी अज़हद यातना का जो वर्णन `रेणु' ने किया है, वह मर्मांतक है। समाज और राजनीति, दोनों के लिए अंचल से उभरा सच स्वाधीनता के बाद का सबसे बड़ा सृजनशील साक्ष्य है।

अंत में मैं अपने ही एक बहुत पुराने लेख (लगभग 40 साल पहले) को उद्धृत करने का लोभ छोड़ नहीं पा रहा हूं:

`स्वाधीनता आंदोलन और *मैला आंचल* की आंचलिकता--दोनों में वंशानुगत जैसी पहचान के आंतरिक लक्षण हैं। दोनों में बराबरी के लिए किये जाने वाले संघर्ष के बिना मानव और क्रांतिकारी हुए बिना उदार होना असंभव है। यहां *रंगभूमि* के प्रभुसेवक और सोफ़िया-विनय का स्मरण किया जा सकता है। इंग्लैंड में बैठे प्रभुसेवक जी स्वाधीनता आंदोलन को विश्व मानवतावाद के विरुद्ध एक संकीर्ण और मानव-विरोधी कार्य मानते हैं। सोफ़िया और विनय उनके अंतरराष्ट्रीय व्यक्तित्व में विश्वासघात की झलक पा लेते हैं और निर्ममतापूर्वक उसे अस्वीकार कर देते हैं। उसी तरह अनेक आधुनिक लेखक और आलोचक ऐसे हैं जो *मैला आंचल* की आंचलिकता को समग्र मानवीय अवस्थिति के सामने संकीर्ण और सतही भी मानते हैं। फिर से उल्लेख आवश्यक है कि सूक्ष्म, गहरी और समग्र मानवीय अनुभूति के संदर्भ में जाने जानेवाले उपन्यास मनुष्य की बराबरी के लिए किये जाने वाले संघर्ष के प्रति उदासीन होकर मानव, और विद्रोह के खतरे उठाए बिना न जाने कैसे उदार मान लिये जाते हैं। *मैला आंचल* की आंचलिकता इस समग्र मानवीय अवस्थिति की गहराई पर (जो विश्व नागरिक के रूप में प्रभावशाली देशों की कुछ ऊपरी जीवन-शैली, रीतियों तथा सतही गुणों की नक़ल से `एक तरह' से दिखने में गौरवान्वित होती है) बहुत बड़ा और भारी प्रश्नचिन्ह खड़ा करती है।'

मैला आंचल की अंतर्वस्तु और आंचलिकता में यह तर्क निहित है कि विशेष रूप से देशीय हुए बिना सार्वभौम होना और सामूहिक जीवन में सक्रिय सहभागिता के बिना मानव-अंतरात्मा की तलाश करना बंजर है, बौद्धिक पाखंड है।

मो0 9810435834

कोरोना काल : प्रवंचनाओं के संदर्भ-1

कोविड-19 : उपभोग और उत्तर-पूंजीवादी दुनिया की आहटें

आदित्य निगम

इस आलेख के शीर्षक में कई लोगों को ख़ामख़याली दिख सकती है या 'शेख़चिल्लीपन' नज़र आ सकता है। आख़िरकार पिछले सौ सालों में न जाने कितनी बार पूंजीवाद के अंत का ऐलान किया जा चुका है - इतना कि एक वक़्त ऐसा भी आया था जब सोवियत संघ के पराभव के बाद पूंजीवाद के अंत की बात ही हास्यास्पद लगने लगी थी। चूंकि वक़्तन-फ़-वक़्तन पूंजीवाद के अंत का दावा मार्क्सवादी ही किया करते थे, इसलिए समाजवाद के पतन के बाद ऐसा लगा कि अब इस विषय में कहने को कुछ बाक़ी नहीं रह गया है; उसका पतन तो अपने आप में एक अकाट्य तर्क है। और वाक़ई उस ज़माने में, 1990 और 2000 की दहाइयों में, दुनिया भर में नव-उदारवाद का झंडा लिये पूंजीवाद के अश्वमेध का घोड़ा सबको रौंदता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था।

बेशक़ यह वही दौर था जब लातिन अमरीका के कई देशों में 'इक्कीसवीं सदी का समाजवाद' नाम से कई नये प्रयोग भी सामने आये, मगर उन प्रयोगों पर भी एक मायने में गोया उस गुज़रे ज़माने की काली छाया छायी रही और पूंजीवाद से वे भी पूरी तरह रिश्ता तर्क़ नहीं कर पाये। इनमें विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं ब्राज़ील में वर्कर्स पार्टी के शासनकाल में और बाद के सालों में वेनेज़ुएला, बोलिविया व इक्वाडोर में हुए प्रयोग। इनमें से कइयों का दावा था कि 'बर्लिन की दीवार हम पर नहीं गिरी थी', लिहाज़ा हम पर उसकी विरासत ढोते जाने का कोई बोझ नहीं है। आज उन निज़ामों के पतन के बाद नये सिरे से उस इतिहास को देखने से ऐसा ही लगता है कि जिस दौर में उनका आविर्भाव हुआ उस दौर की छाया उन पर लगातार छायी रही और कई मायनों में पूंजीवाद से उनका रिश्ता बना रहा। नवउदारवाद के नज़रिये से वे पूरी तरह किनारा नहीं कर पाये। और तो और, उसके भी बाद के दौर में 'यूरोज़ोन' में, यूनान में ज़बरदस्त जनांदोलनों से जो 'सीरिज़ा' प्रशासन वजूद में आया, वह भी इस तर्क और नज़रिये से पीछा नहीं छुड़ा पाया और उसकी भी हालत ख़राब हो गयी थी।

वर्ग-युद्ध का नया रूप

लिहाज़ा आज 'कोरोनाकाल' में जब दुनिया भर में सरमायेदार अपने चाकुओं की धार पैनी कर रहे हैं और ख़ासतौर पर हिंदुस्तान में तो खुले 'वर्ग-युद्ध' का ऐलान कर ही चुके हैं, तब यह कहना कि इसमें हमें उत्तर-पूंजीवादी दुनिया की आहटें सुनायी दे रही हैं ख़ामख़याली के सिवा और क्या हो सकता है? बिला शक़ एक स्तर पर यह एक बेतुका दावा लगता है और इसलिए इस विषय पर तफ़सील से बात होना ज़रूरी है। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, एक बात स्पष्ट करते चलें : मैंने 'वर्ग-युद्ध' शब्द का इस्तेमाल अनजाने में नहीं किया है बल्कि पूरे होशो-हवास में, पूरी ज़िम्मेदारी के साथ किया है। 'वर्ग-युद्ध' से क्या मुराद है हमारी?

इसका एक अर्थ तो वह है जो आम तौर पर समझा जाता है – दो वर्गों के बीच संघर्ष या टकराव जिसे मार्क्स ने समाज की चालक शक्ति माना था। इस अर्थ में पूंजीपति वर्ग की अदावत सीधे सीधे मज़दूर वर्ग से होती है जिसके श्रम के शोषण के ज़रिये पूंजीपति मुनाफ़ा कमाता है। ज़ाहिर है कि इस अर्थ में भी वर्ग-संघर्ष समाज में एक रोज़ के लिए भी रुका नहीं, बेशक़ नव-उदारवाद के 'नये ज़माने' के पैरोकार कुछ भी दावा करते रहें। लगे हाथों नोट करते चलें कि दरअसल वह 'नया ज़माना' अब बहुत पुराना पड़ चुका है और नवउदारवाद अब पूरी तरह विफल हो चुका है। उसके पैरोकार अब भी 1990 के दशक में जीते हैं जबकि दुनिया भर के नये दक्षिणपंथी उभार – ब्रेक्सिट से लेकर डोनाल्ड ट्रम्प आदि के आविर्भाव तक – के पीछे इसके विफलता की ही कहानी है मगर वह एक दीगर कहानी है जिसपर यहां चर्चा मुमकिन नहीं है।

'वर्ग-युद्ध' को एक और अर्थ में समझने की ज़रूरत है जहां समाज का एक ताक़तवर वर्ग बाक़ी पूरे समाज के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देता है – उसके निशाने पर सिर्फ़ मज़दूर वर्ग नहीं बल्कि पूरा समाज होता है। सच्चाई तो यह है कि पूंजीवाद के पहले ऐसा कभी शायद किसी समाज में नहीं हुआ कि पूरा का पूरा समाज ही सत्तावान वर्ग के निशाने पर आ जाये। आज के पूंजीवाद के साथ पूरे समाज का अंतर्विरोध इस बात में तो साफ़ साफ़ देखने को मिलता है कि उसकी कारस्तानियों के कारण आज पूरी मानव जाति का वजूद ख़तरे में आ गया है। उसकी हवा तो दूषित हो ही चुकी है, उससे उपजी हज़ारों बीमारियों ने आम लोगों की ज़िंदगियों को घेर लिया है। पानी भी ग़ायब होता जा रहा है और जहां बचा है, ज़हरीला हो चुका है। ख़ुद हमारे देश में हालिया ख़बर यह है कि बड़े बड़े शहरों में भी दो साल की ख़पत लायक़ पानी ही ज़मीन के नीचे बचा है। पानी के अभाव में बुंदेलखंड जैसे इलाक़ों से तो सालों से लोगों का पलायन हो रहा है और कई जगहों में अब रेलगाड़ियों में भर कर पानी पहुंचाया जाता है। यह तो महज़ उसका रोज़ाना का संकट है मगर कुल मिलाकर आबोहवा का संकट आज एक ऐसी जगह पहुंच चुका है जहां उससे पैदा होने वाले असरात का हमें कोई अंदाज़ा ही नहीं है। मिसाल के तौर पर ऊंचे पहाड़ों पर ग्लेशियरों के पिघलने से क्या किस किस तबाही का हमें सामना करना पड़ सकता है उसका हमें अंदाज़ा भी नहीं है। हाल में वैज्ञानिकों ने इस ओर भी ध्यान खींचने की कोशिश की है कि उस बर्फ़ की ठंडक में दबे अनगिनत वायरस हैं जो यों तो हज़ारों साल पड़े रह सकते थे मगर जैसे ही तापमान बढ़ता है और उन्हें अनुकूल माहौल मिलने लगता है, वे जी उठते हैं। ग्लोबल वार्मिंग के अन्य असरात के बारे में तो शायद हम जानते हैं मगर यह एक ऐसा पहलू है जो आज के संदर्भ में बेहद मानीखेज़ हो जाता है। यह विषय अपने आप में बहुत बड़ा है और ज़ाहिर है कि इस लेख में उसके विभिन्न आयाम खोलना संभव नहीं है। मगर यहां एक बात ज़रूर दर्ज करनी चाहिए कि पूंजीवाद का यही पहलू है जो जाकर सीधे नये कोरोना के साथ जुड़ता है।

आधुनिक पूंजीवादी विकास का एक पहलू वह है जो लगातार वन्य जीवजंतुओं की प्रजातियों के विलोप और उनके रिहाइशी जंगलों – स्थानीय पारिस्थितिक तंत्रों या 'लोकल इकोसिस्टमों' – में हस्तक्षेप और उनकी बरबादी से जुड़ा है। जैसे जैसे इन जंतुओं की तादाद घटने लगती है या उन के जंगलों का सफ़ाया होने लगता हैं, उनकी देहों पर बसने वाले वायरस नयी रिहाइशी देह तलाशते हैं और चूंकि इंसान ही सबसे ज़्यादा पसरते जाने वाला जीव है, एक मुक़ाम ऐसा आता है जब एक 'प्रजातिगत छलांग' के ज़रिये ये वायरस इंसान के जिस्म में बसने लगते हैं। ज़ाहिर है यह एक सरलीकृत तस्वीर है मगर यह सही है कि इस तरह नये नये वायरस का फैलना जानवरों और इंसानों के बीच के रिश्ते से सीधे सीधे ताल्लुक रखता है और यह रिश्ता कई तरह से देखने में आता है जिसकी शक्ल बेशक़ अक्सर बदलती रहती है और जिसके बदलने के पीछे तकनालजी और मुनाफ़े का मिलाजुला खेल होता है। जब इंसानों और जानवरों के बीच रिश्ते बदलते हैं तो साथ ही वे हालात भी बदल जाते हैं जिनके बीच ये बीमारियां पनपती हैं और इनमें से अक्सर ऐसी बीमारियां या महामारियां होती हैं जिनका संबंध औद्योगिक स्तर पर

मांस-उत्पादन से भी होता है। इसलिए यह कोई अचंभे की बात नहीं कि हाल के सालों में जिन वायरस ने हम पर हमला किया है वे सभी किसी न किसी जानवर से जुड़े रहे हैं। इसीलिए इन महामारियों के नाम या तो 'बर्ड फ़्लू' (चिड़ियों का और उनके ज़रिये फैलने वाले) या 'स्वाइन फ़्लू' (सूअरों का फ़्लू) आदि होते हैं। चीन से जारी एक ब्लॉग के मुताबिक़ वायरस की 'जंगली' क़िस्में और ग्लोबल अर्थव्यवस्था के बेतहाशा शहरीकृत और औद्योगीकृत इलाक़ों में – वुहान शहर जिसका अव्वल उदाहरण है – उनका अचानक प्रसार हमें नये युग के राजनीतिक-आर्थिक महामारियों के कई पहलुओं से अवगत कराता है।

जीव वैज्ञानिक रॉबर्ट जी वालेस की हालिया किताब *बिग फ़ार्म्स मेक बिग फ़्लू* (2016) के हवाले से इस ब्लॉग पोस्ट में पूंजीवादी कृषि व्यवसाय (एग्रीबिज़नेस) और सार्स व इबोला जैसी घातक महामारियों की चर्चा की गयी है। वालेस के मुताबिक़ इस एग्रीबिज़नेस के धंधे से जुड़े दो प्रकार की महामारियां देखने को मिलती हैं – एक वे जो एग्रीबिज़नेस के ऐन बीच में, उसके केंद्रीय इलाक़ों में पनपती हैं और दूसरी वे जो उसके हाशियों में पलती हैं। यानी बीमारियां पनपती हर तरफ़ हैं। बर्ड फ़्लू के संदर्भ में वालेस कहते हैं कि दुनिया के ग़रीबतर देशों के देहातों में अब एक नज़ारा आम हो चला है जहां शहरी परिधियों की ग़रीब बस्तियों के साथ सटे बेलगाम बढ़ते एग्रीबिज़नेस देखने को मिलते हैं। मुर्गियों के साथ लगातार अंतर्क्रिया के दरमियान अक्सर वायरस में इंसानों के अनुकूल बदलाव भी आने लगते हैं और जल्द ही वे इंसानों का रुख करते हैं। पहले जो बीमारी स्थानीय स्तर की हुआ करती थी, अब भूमंडलीकरण के दौर में वह दुनिया भर में फैल जाती है। मगर जो बात यहां सबसे दिलचस्प है वह यह कि जंगली और आज़ाद रहने वाले परिंदों में वायरस की ख़ास तरह की ख़तरनाक़ क़िस्में देखने को नहीं मिलती हैं जो हमें औद्योगिक मांस उत्पादन के लिए एकसाथ फ़ार्मों में ठूंस कर पाले गये इन परिंदों में मिलती हैं। परिंदों में पनपते इन ख़तरनाक़ क़िस्मों की एक वजह और है – औद्योगिक स्तर के उत्पादन से जुड़े जानवरों के जेनेटिक मोनोकल्चर के चलते उनके अंदर बीमारियों के प्रतिरोध की क्षमता ख़त्म हो जाती है और वे हर तरह की बीमारी के आसानी से शिकार हो सकते हैं। अगर पूंजीवादी उत्पादन से जुड़े तमाम पारिस्थितिकीय / पर्यावरणीय पहलुओं का लेखाजोखा तैयार करें तो पायेंगे कि आज पूरी इंसानियत उसकी वजह से ख़तरे में आ गयी है – यह उसके समूचे इंसानी समाज से अदावत का एक पहलू है। मगर उसके वर्ग-युद्ध को एक और अर्थ में समझना होगा।

अमरीका के मशहूर निवेशक और अरबपति वारेन बफ़ेट ने एक बार 2006 में *न्यूयॉर्क टाइम्स* के एक लेखक बेन स्टाइन को टैक्स की राजनीति के संदर्भ में कहा था कि 'यह सच है कि आज एक वर्ग-युद्ध जारी है मगर यह मेरा वर्ग है, अमीर वर्ग जो यह जंग छेड़े हुए है...।' 2011 में एक टेलीविज़न साक्षात्कार में इस बात को और खोलते हुए उन्होंने बताया कि अगर अमरीका के ऊपर के 400 करदाताओं को देखें तो पायेंगे कि 1992 के मुक़ाबले 2011 में उनकी सालाना आय 40 मिलियन डॉलर फ़ी व्यक्ति से बढ़ कर 227 मिलियन डॉलर हो गयी है मगर इसी दौरान उनकी टैक्स की दर 29 फ़ीसदी से घट कर 21 फ़ीसदी हो गयी है। ऑक्सफ़ेम की अभी हाल ही में जारी रपट बताती है कि हिंदुस्तान में फ़क़त 63 करोड़पति-अरबपतियों का धन 2018-2019 में पूरे भारत सरकार के बजट से ज़्यादा था – यानी रु 24, 42, 200 करोड़ से ज़्यादा। रपट यह भी बताती है कि देश के ऊपर की 10 फ़ीसदी आबादी कुल 77 फ़ीसदी राष्ट्रीय धन पर क़ाबिज़ है। रपट से यह भी पता चलता है कि ज़्यादातर लोगों के पास स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं और हर साल 6 करोड़ 30 लाख लोग सिर्फ़ स्वास्थ्य सेवाओं की क़ीमतों की वजह से ग़रीबी में धकेल दिये जाते हैं। रोंगटे खड़े कर देने वाले ये तथ्य वारेन बफ़ेट के वर्ग-युद्ध वाले दावे की भारत के संदर्भ में पुष्टि करते हैं।

इस नज़र से देखें तो यही लगता है कि आने वाला वक़्त भी पूंजी द्वारा आम लोगों पर जारी क्रूर और बेरहम वर्ग-युद्ध का ही दौर होने वाला है।

पूंजीवाद और 'इंसानी फ़ितरत'

मगर तस्वीर को देखने का एक और मुक़ाम हो सकता है। फैशन उद्योग की परामर्शदाता और उससे बहुत घनिष्ठ रूप से जुड़ी ली एडेल्कूर्ट ने लॉकडाउन के शुरुआती दिनों में एक साक्षात्कार में कहा कि 'ऐसा लगता है कि हम उपभोग के ज़बरदस्त क्वारंटीन के एक ऐसे दौर में दाख़िल हो रहे हैं जहां हम साधारण पोशाक से ही संतुष्ट होना सीख जायेंगे, पुरानी पसंदीदा चीज़ का आनंद ले सकेंगे या किसी भूली हुई किताब को दोबारा पढ़ कर ख़ुश रहेंगे – ज़िंदगी को ख़ूबसूरत बनाने के लिए तूफ़ान खड़े कर देंगे'। एक वैकल्पिक और अलहदा दुनिया बनाने के लिहाज़ से, एडेल्कूर्ट ने कहा, इस वायरस के असर सांस्कृतिक तौर पर दूरगामी होंगे। याद रखें यह बात किसी सिरफिरे गांधीवादी की नहीं बल्कि उस फ़ैशन उद्योग के कर्मी की है जो एक मायने में ख़ुद पूंजीवाद का प्राणकेंद्र है। फ़ैशन का ताल्लुक़ बेशक़ कपड़ों या पोशाक से हो मगर उसका फ़लसफ़ा तो पूंजीवाद की बुनियाद है।

अक्सर यह कहा जाता है कि पूंजीवाद इसलिए सबसे कारगर और सक्षम व्यवस्था है क्योंकि वह इंसान की फ़ितरत से मेल खाती है और उसके अनुकूल है क्योंकि इंसान नैसर्गिक तौर पर उपभोग-पसंद और संचयन-पसंद होता है – अर्थात वह उपभोग के साथ साथ लगातार नया धन पैदा करके उसे उत्पादन में लगाना चाहता है। हक़ीक़त दरअसल इसके बिलकुल विपरीत है। पहले उपभोग को देखें। एक उदाहरण से शायद बात बेहतर समझ आये। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में जब गाड़ियों का उत्पादन शुरू ही हुआ था तब अमरीका (जिसे हम पूंजीवाद का स्वर्ग मानते हैं) में गाड़ियों की मांग ज़्यादातर देहाती इलाक़ों से शहरों का सफ़र करने वालों में थी। वह अमरीका में तेज़ शहरीकरण का वक़्त था और 1930 तक 56 फ़ीसदी आबादी शहरों में बसने लगी थी मगर फिर भी शहरी अमीरों की भी गाडियां ख़रीदने में कोई रुचि नहीं थी। उस ज़माने में अमरीकी शहरों में ट्रामें चला करती थीं (जिन्हें इलेक्ट्रिक कार कहा जाता था) और लोग उसी में जाना-आना पसंद किया करते थे। ऑटोमोबाइल कंपनियों ने पहले उन्हें ख़रीद कर उन्हें बर्बाद कर दिया – ताकि गाड़ियों की मांग बढ़ सके। बर्बाद दो तरह से किया गया – एक स्तर पर उनके ऑर्डर रद्द करके और दूसरे जानबूझ कर उनके किरायों में इज़ाफ़ा कर के। इससे गाड़ियों की मांग बढ़नी तो शुरू हुई मगर कंपनियों की हवस के लिए नाकाफ़ी थी लिहाज़ा स्टुडबेकर कॉर्पोरेशन के प्रधान पॉल हॉफ़मन ने 1939 में ऐलानिया तौर पर कहा था कि इसके लिए शहरों को नये सिरे से ढालना होगा ताकि आज जो लोग गाड़ियां ख़रीदने से इंकार करते हैं उन्हें भी गाड़ियां ख़रीदनी पड़ें। और वैसा ही हुआ – शहरों को इस तरह ढाला गया कि और कोई गुंजाइश ही न बचे।

सर्ज लाटूश इस संदर्भ में एक सटीक विश्लेषण पेश करते हैं। बक़ौल उनके, तीन औजार ऐसे हैं जिनसे मिलकर पूंजीवाद का तामझाम खड़ा किया और बनाये रखा जाता है : (1) विज्ञापन उद्योग जिसका बजट दुनिया के पैमाने पर हथियारों के बाद दूसरे नंबर पर है और जो लगातार नयी ख्वाहिशें और नयी ज़रूरतें – और प्रकारांतर से नयी मांग – पैदा करता है। (2) क़र्ज़ा – क्रेडिट – जो माल बेचने वाला ही आपको 'आसान किश्तों' में ख़रीद पाने के लिए मुहैया करता है बेशक़ अंततः आपको आख़िर में वह सौदा मूल से ज़्यादा महंगा पड़े। इसमें क्रेडिट कार्ड भी शामिल है। यही नयी ख़्वाहिशों और ज़रूरतों को मांग में तब्दील करता है। (3) जिसे हम 'योजनाबद्ध बेकारी' कह सकते है जहां सोची समझी बिज़नेस रणनीति के तहत उत्पादों की आयु सीमित कर दी जाती है ताकि एक ख़ास मियाद के बाद वह 'बेकार' हो जाये और आपको नये विकल्प तलाशने पड़ें।

आंद्रे गोर्ज़ के हवाले से लाटूश बताते हैं कि पिछली सदी के उत्तरार्ध में कुछ सर्वे हुए जिनमें 90 फ़ीसदी अमरीकन कंपनियों के प्रधानों ने यह क़ुबूला कि विज्ञापन अभियान के बिना कोई भी नया उत्पाद बेचना असंभव होता है। 85 फ़ीसदी ने माना कि विज्ञापन अक्सर लोगों को ऐसे उत्पाद ख़रीदने के लिए प्रेरित करता है जिसकी उन्हें ज़रूरत नहीं और 51 फ़ीसदी ने यह भी माना कि विज्ञापन के चलते लोग ऐसी चीज़ें भी ख़रीद लेते हैं *जिन्हें वे ख़रीदना नहीं चाहते*।

तक़रीबन यही बात संचयन के बारे में भी सच है। इंसान फ़ितरतन न तो जमाख़ोर होता है और न संचयकर्त्ता। ज़्यादा विस्तार में न जाते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत की तरह ही दुनिया के ज़्यादातर देशों में पसरी हुई विशाल 'अनौपचारिक अर्थव्यवस्था' में इतना धन पैदा होता है जितना अक्सर उन देशों के स्टॉक मार्केट में भी नहीं होता। ऐसा पिछले सालों के कई शोधों से पता चलता है। मगर यह धन पूंजीवादी संचयन के लिए बेकार है क्योंकि इसके आधारभूत सिद्धांत अलग हैं। अर्थशास्त्री कल्याण सान्याल इसे 'ज़रूरत की अर्थव्यवस्था' कहते हैं। पिछले चालीस पचास बरसों में इस पर जो कुछ भी काम हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि यह न तो 'पारंपरिक क्षेत्र' है (जैसा उसे पहले कहा जाता था) जिसके विलोप की उम्मीद अर्थशास्त्री लगाये बैठे थे, और न ही यह 'अनौपचारिक क्षेत्र' सिर्फ़ कगार पर जीने और कार्य करने वाली इकाइयों का क्षेत्र है बल्कि अच्छी ख़ासी मात्रा में धनोपार्जन करने वाला क्षेत्र है।

उत्तर-पूंजीवाद के स्रोत

अगर ये बातें सही हैं तो इस ख़याल को हमें दिमाग़ से निकाल देना होगा कि पूंजीवाद इंसानी फ़ितरत के अनुकूल कोई व्यवस्था है। यह भी याद रखना ज़रूरी है कि न सिर्फ़ उपभोग और संचयन किसी स्वाभाविक इंसानी प्रकृति का प्रतिफलन नहीं हैं बल्कि उसके लिए अनुकूल स्थितियां पैदा करने के लिए सारी दुनिया में ज़बरदस्त हिंसा का प्रयोग हुआ है। 'संपत्ति' के उन तमाम रूपों को जो पूंजीवादी व्यक्तिगत संपत्ति के वजूद में आने से पहले देखने को मिलते हैं, पूरी तरह नेस्तनाबूद करके ही हर जगह पूंजी का एकछत्र राज क़ायम हुआ है। हमारे मुल्क में ऐसी 'संपत्ति' तो थी ही जिनमें मिल्कियत से ज़्यादा *इस्तेमाल के अधिकारों* पर ज़ोर रहा करता था (मसलन आदिवासी/ क़बाइली लोगों के ज़मीन से सदियों से चले आ रहे रिश्ते या ग़ैर- मज़रुआ या शामिलाती ज़मीन), इनके अलावा भी पारिवारिक संपत्ति के कई रूप हुआ करते थे। दिलचस्प बात यह है कि दुनिया के बड़े हिस्से में – ख़ासकर एशिया व अफ़्रीका के देशों में – हज़ार कोशिशों के बाद भी संपत्ति के वे पुराने रूप आज भी विराजमान हैं। उन्हें दो सौ साल का उपनिवेशवाद और उसके बाद सत्तर से ज़्यादा सालों का स्वतंत्र पूंजीवादी विकास ख़त्म नहीं कर पाया है। इसीलिए इन देशों को अक्सर 'अविकसित' पूंजीवादी देश कहा जाता है।

इस पूरे सूरतेहाल को अगर ग़ौर से देखें तो पायेंगे कि दरअसल इन्हें देखने के दो तरीक़े हो सकते हैं। अगर पश्चिम के पूंजीवाद को आदर्श और पैमाना माना जाये तो हमें यह सूरत हमेशा एक ख़ामी की तरह दिखायी देगी। दूसरी तरफ़ अगर हम इसे आज के उस संदर्भ में पुनर्विवेचित करें जिसकी चर्चा हम ऊपर कर रहे थे तो तस्वीर बिलकुल अलग दिखायी देगी। तब हमें यह अहसास होगा कि पिछले दो सौ सालों से दुनिया जिस ख़याल को लेकर चल रही है कि इंसान और इंसान की 'अर्थव्यवस्था' सर्वोपरि है और प्रकृति और उससे जुड़ी आबादियां (जैसे आदिवासी) सब उसकी ख़ातिर बलि चढ़ाये जा सकते हैं - यह ख़याल आज बुरी तरह संकटग्रस्त हो चुका है। आज यह समझ में आ रहा है कि जिस पूंजीवाद को हम 'तरक्क़ी' मानते रहे हैं उसकी बुनियाद उपनिवेशवाद और अमेरिका से लेकर ऑस्ट्रेलिया आदि की देशज आबादियों के जनसंहार पर टिकी है; उसकी बुनियाद अटलांटिक ग़ुलाम व्यापार पर टिकी है। यह अनायास नहीं है कि पिछले दशकों में लातिन अमरीका में उभरे

वामपंथ के शीर्ष में या तो इवो मोरालेस जैसे देशज क़बाइली नेता थे या फिर उनकी जीवनशैलियों और सोच को बोलिविया, इक्वाडोर आदि देशों के संविधानों में केंद्रीय जगह दी गयी है। पिछले दशकों में अफ़्रीका के ज़ुलु शब्द 'उबंटू' (जिसके मायने हैं कि व्यक्ति समष्टि के साथ ही व्यक्ति होता है), से लेकर 'बुएन विविर' या 'सुमक कौसे' (अर्थात 'बेहतर जीना') के विचारों का दोबारा चलन में आना इसी नयी संवेदना का इज़हार करता है और पूंजीवाद के व्यक्तिकेंद्रिक फ़लसफ़े के बरअक्स सामूहिकता का नया फ़लसफ़ा पेश करता है।

यहां चलते चलते यह भी कहते चलें कि दरअसल इस नये मोड़ के तार बुज़ुर्ग मार्क्स के आख़िरी दशक के अध्ययनों और उनके सोच में आ रहे तेज़ बदलावों से भी जुड़ते हैं। ज़िंदगी के इस आख़िरी दशक में उन्होंने रूस की सामूहिक कृषक संपत्ति के सवाल का गहन अध्ययन शुरू किया और इस नतीजे पर पहुंचे कि न तो समाज की तरक़्क़ी के लिए और न ही समाजवाद के लिए पूंजीवाद की कोई अनिवार्यता है। 1882 में उनकी मृत्यु के एक साल पहले *कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो* का जो रूसी संस्करण शाया हुआ, उसमें मार्क्स व एंगेल्स के संयुक्त हस्ताक्षर से लिखी गयी भूमिका में यह बात खुल कर कही गयी थी कि रूस में यह सामूहिक कृषि संपत्ति ही समाजवाद का आधार बन सकती है।

इस बात को निगाह में रखते हुए अब एक बार फिर नवकोरोनाकाल में पूंजीवाद के सामने खड़ी चुनौतियों पर एक नज़र डालना मुनासिब होगा। हमें भूलना नहीं चाहिए कि 2008 की आर्थिक मंदी के बाद से पूंजीवाद का जो संकट उभर कर सामने आया था वह अब भी जारी है – यानी कोविड-19 के अविर्भाव से पहले तक वह जारी था और इस दौर ने उसे एक ऐसे गर्त में धकेल दिया है कि उससे उबर पाना उसके लिए लगभग नामुमकिन होगा। 2008 के बाद से चले आ रहे संकट के पीछे एक बड़ा कारण यह भी था कि उस मंदी के तजुर्बे ने विकसित पूंजीवादी देशों के लोगों को यह दिखा दिया था कि उनकी ज़िंदगी उनके क़ाबू से बाहर है और कहीं न कहीं बैंकों और कॉर्पोरेशनों के चंगुल से निकलना बहुत ज़रूरी है। ज़ाहिर है इन देशों में उनकी गिरफ़्त से 'निकलना' तो आसान नहीं है, मगर बदलाव का एक अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि जहां अमरीका में 2008 से पहले पारिवारिक या व्यक्तिगत बचत दर नेगेटिव थी – यानी लोग क्रेडिट कार्डों के चलते उधार में जीने के आदी हो चले थे – वहीं 2019 में यह दर 7.5 फ़ीसदी हो गयी थी। अर्थात आय का एक अच्छा ख़ासा हिस्सा ख़र्च होने के बजाय बचाया जा रहा था। इसी दौरान हुए कुछ सर्वे यह भी बताते हैं ही अमरीका व यूरोप के 25 से 30 साल की उम्र वाले नौजवान लोग पूंजीवाद की बनिस्बत समाजवाद को बेहतर मानते हैं। नवकोरोना के इस दौर में जब पूंजीवाद का सबसे घिनौना और क्रूर चेहरा देखने को मिला है तब इस प्रवृत्ति के और तेज़ होने की संभावना ही ज़्यादा है। इधर इस स्थिति का एक असर यह हुआ है कि स्पेन और आयरलैंड जैसे देशों ने इस दौर में स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था और अस्पतालों का अस्थाई रूप से राष्ट्रीयकरण करके यह बता दिया है कि पूंजीवादी मुनाफ़े की हवस के चलते यह व्यवस्था इस तरह के गहरे संकट से निबटने क़ाबिल नहीं है। कई देशों ने इस दौरान अपने नागरिकों की देखभाल के लिए अस्थाई तौर पर एक आमदनी की व्यवस्था भी की है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पूंजीपतियों व कॉरपोरेशनों के वर्ग-युद्ध से जो भी तस्वीर हमें दिखायी देती हो मगर इस दौर के झकझोर देने वाले तजुरबों की वजह से नवउदारवाद और पूंजीवाद का तिलिस्म बहुत हद तक टूट ही चुका है। जिन्हें यह गुमान था कि इन व्यवस्थाओं के पास सारी समस्याओं का हल है, उन्हें ज़रूर नये सिरे से सोचना होगा।

मो0 9871406520

कोरोना काल : प्रवंचनाओं के संदर्भ-2

राहत पैकेज का सच और नव-उदारवाद की अंधी गली

प्रभात पटनायक

राहत पैकेज यानी ऊंट के मुंह में जीरा

जनता के प्रति मोदी सरकार की अमानवीयता की तुलना बस उसकी मिथ्यावादिता से ही की जा सकती है। इन दोनों ही मामलों में मोदी सरकार दुनिया की दूसरी ज़्यादातर सरकारों से मीलों आगे है। आख़िरकार, दूसरी ऐसी कौन सी सरकार है जिसने विदेशी तथा देसी इज़ारेदारियों के लिए कई-कई रियायतें देने को, देश की जनता के लिए राहत पैकेज के तौर पर चलाने की कोशिश की होगी! दूसरी ऐसी कौन सी सरकार है जिसने बैंकों तथा ग़ैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनियों के लिए ऋण योजनाओं का ऐलान कर उन्हें संकट के मारे ग़रीबों के लिए राहत के क़दम के तौर पर प्रचारित करने की कोशिश की हो? ऐसी कौन सी दूसरी सरकार होगी जिसने वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी और उसकी क्रेडिट-रेटिंग एजेंसियों के सामने अपने पूरी तरह से दंडवत हो जाने को, आत्मनिर्भरता के क़दम के तौर पर पेश करने की कोशिश की हो।

आइए, हम शुरुआत से ही चलते हैं। सिर्फ़ चार घंटे के नोटिस पर लॉकडाउन का ऐलान कर दिया गया। उन 14 करोड़ प्रवासी मज़दूरों के बारे में एक बार सोचा तक नहीं गया जिन्हें एक ही झटके में बेघर, आयहीन और भोजनहीन किया जा रहा था। नतीजा यह हुआ कि विशाल संख्या में मज़दूर सड़कों पर उतर पड़े, वहां जाने के लिए जो उनकी नज़रों में इन हालात में उनका इकलौता आश्रय था--गांव का उनका घर। उसके बाद देरी करके मोदी सरकार ने 1.7 लाख करोड़ रु0 के एक राहत पैकेज का ऐलान किया। लेकिन इसमें से भी नयी मदद, जिसका ऐलान पहले ही नहीं किया जा चुका था, सिर्फ़ 92,000 करोड़ रु. की थी यानी देश के जीडीपी के 0.5 फ़ीसद से भी कम। दुनिया के दूसरे हरेक बड़े देश द्वारा दी जा रही मदद से बहुत-बहुत कम।

बाद में लॉकडाउन को एक महीने से ज़्यादा के लिए बढ़ा दिया गया। इस दौरान, हताश और लाचार प्रवासी मज़दूरों के पैदल ही घरों के लिए चल रहे होने की त्रासदी हर रोज़ सारी दुनिया को देखने को मिल रही थी। फिर भी मोदी सरकार में ज़रा सी हरकत तक नहीं हुई। इसके बाद, 12 मई को मोदी ने, पहले की तमाम घोषणाओं समेत, 20 लाख करोड़ रु. के पैकेज का ऐलान कर दिया। कम से कम यह ऐलान बड़ा लग रहा था। इसके ब्यौरों की घोषणा बाद में वित्त मंत्री को करनी थी। और उन्होंने बाक़ायदा यह काम किया भी। पता चला कि 20 लाख करोड़ रु. का तथाकथित 'राहत पैकेज' हद दर्जे की हवाबाज़ी के सिवा और कुछ था ही नहीं। सरकार की मदद की ज़्यादातर पेशकश, वास्तव में ऋण के वादे के रूप में ही थी और ऋण का वादा किसानों से, एमएसएमई से और अन्य सभी प्रभावित क्षेत्रों से किया जा रहा था।

वित्त मंत्री की घोषणाओं के मकड़जाल को काटकर ठीक-ठीक इसका हिसाब लगा पाना बेशक मुश्किल है कि यह पैकेज कितनी वित्तीय मदद वाक़ई मुहैया कराता है। स्वतंत्र शोधकर्ताओं के अनुमानों से मैंने इस पैकेज पर सरकार के बजट से किये गये कुल ख़र्चे या राजकोषीय हस्तांतरण का हिसाब लगाया है क्योंकि सिर्फ़ उसी को 'राहत पैकेज' कहा जा सकता है। इस हिसाब से यह ख़र्चा कुल 1.9 लाख करोड़ बैठता है, हालांकि कुछ शोधार्थियों का

अनुमान इससे भी कम, सिर्फ़ 1.65 करोड़ रु. का है (*द वायर*, 18 मई)। चूंकि इसमें पहले के सभी पैकेज भी शामिल हैं, यह कुल रक़म है जो मौजूदा महामारी के संदर्भ में सरकार ख़र्च करने जा रही है। यह राशि देश के जीडीपी के 1 फ़ीसद के क़रीब ही बैठती है। जिस तरीक़े के विकराल मानवतावादी संकट का हमारा देश इस समय सामना कर रहा है, उसे देखते हुए, और अन्य देश जिस पैमाने पर ख़र्च कर रहे हैं, उसे भी देखते हुए, दोनों ही पैमानों से यह हास्यास्पद तरीक़े से थोड़ा है।

महज़ दो तथ्यों से ताज़ातरीन क़दमों की नगण्यता को समझा जा सकता है। पहले का संबंध ताज़ातरीन क़दमों में शामिल उस इकलौते प्रावधान से है, जो प्रवासी मज़दूरों के लिए है। यह है 5 किलोग्राम प्रतिव्यक्ति अतिरिक्त अनाज। इस पर सरकार कुल 3,500 करोड़ रु. ख़र्च करने जा रही है यानी 14 करोड़ की प्रवासी आबादी पर प्रतिव्यक्ति 250 रु.। अगर सरकार द्वारा पेश किये गये 8 करोड़ प्रवासी मज़दूरों के आंकड़े को ही सच मानें, तब भी यह प्रतिव्यक्ति कुल 437 रु. 50 पैसा बैठता है। प्रवासी मज़दूरों के लिए सरकार की हमदर्दी की यही सीमा है!

दूसरे तथ्य का संबंध 6,750 करोड़ रु. की राशि से है, जो कथित रूप से उन 4.3 करोड़ मज़दूरों की मदद के लिए दी जा रही है, जिनकी प्रोवीडेंट फ़ंड के लिए वेतन में से वैधानिक कटौती अगले तीन महीने के लिए 12 से घटाकर 10 फ़ीसद कर दी गयी है। सरकार की आपाधापी का यह आलम है कि उसने इसे भी अपने पैकेज में जोड़ लिया है।

सरकार के अफ़सरान बड़ी मेहनत से इस पैकेज की घोर कृपणता की सफ़ाई में लोगों को यह समझाने में लगे हुए हैं कि पैकेज में तो हमेशा ही राजकोषीय क़दम और मुद्रा नीति क़दम, दोनों ही रखे जाते हैं। लेकिन वे यह नहीं बताते हैं कि पैकेज में हमेशा दोनों रहते तो ज़रूर हैं, पर इस मिश्रण में उनका अनुपात क्या होता है? वास्तव में उनकी इस सफ़ाई से दूसरे विश्व युद्ध के दौर के ब्रिटेन की याद आ जाती है। उस ज़माने में जनता को घोड़े और मुर्ग़ी के मांस के मिश्रण के सेंडविच दिये जाते थे। हमेशा ऐसा बताया जाता था कि दोनों मांस 1:1 के अनुपात में मिलाये गये हैं। बाद में पता चला कि मिश्रण में एक घोड़े के मांस के साथ एक मुर्ग़ी का मांस मिलाया जा रहा था।

राजकोषीय हस्तांतरण की नगण्यता के अलावा इस पैकेज में जो बात ख़ासतौर पर हैरान करती है, वह है इसकी घोर विचारहीनता। विचारहीनता हमेशा ही जनता के प्रति हिकारत को दिखाती है और यह पैकेज इसका जीता-जागता उदाहरण है। अब तक यह बात सभी जानकार मान चुके हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था की असली समस्या मांग की कमी के बहुत-बहुत बढ़ जाने की है। वास्तव में महामारी के पहले के हालात में भी यह विशेषता सामने आ चुकी थी। अब जबकि समूची श्रम शक्ति का क़रीब चौथाई हिस्सा इस समय बेरोज़गार हो गया है और इसलिए उसके पास कोई क्रय शक्ति ही नहीं बची है, मांग में ऐसी भारी कमी होना स्वाभाविक है। और जब तक मांग पैदा नहीं की जाती है, उद्यमों के लिए सिर्फ़ ऋण की व्यवस्था किये जाने से कोई फ़ायदा होने वाला नहीं है। आख़िरकार, वे अपनी कार्य-निष्पादन पूंजी के लिए ऋण तो तब उठायेंगे, जब वे अपनी पैदावार बढ़ाना चाहेंगे और यह तो तभी होगा जब मांग होगी। लेकिन, सरकार के पैकेज में सरकारी ख़र्च तो नगण्य ही है, जबकि एक यही चीज़ है जो मांग पैदा कर सकती थी। इसलिए और ज़्यादा ऋण देने की उसकी पेशकश का कोई लेनदार ही नहीं होगा।

इस मुक़ाम पर ज़रूरत निजी उत्पादकों को और ज़्यादा बैंक ऋण मुहैया कराने की नहीं बल्कि सरकार को ख़र्चा करने के लिए और ज़्यादा ऋण दिये जाने की थी। मुसीबत के मारे लोगों को पैसा हस्तांतरित करने के ज़रिये, जिसका सुझाव अनेक पार्टियों ने दिया था, जिनमें वामपंथी पार्टियां सबसे आगे थीं, सरकार एक तीर से दो शिकार कर सकती थी। इस एक क़दम से वह मांग भी पैदा कर सकती थी और लोगों का संकट भी दूर कर सकती थी। इस तरह से मांग में नये प्राण फूंके जाने से उत्पाद में बढ़ोतरी हुई होती और उत्पाद में इस बढ़ोतरी को चलाते

रहने के लिए बैंक ऋणों की बढ़ी हुई मांग सामने आयी होती। लेकिन, सरकारी ख़र्च को इस पैकेज से क़रीब-क़रीब बाहर ही रखने और निजी उत्पादकों के लिए सिर्फ़ बैंक ऋणों की पेशकश करने के ज़रिये, सरकार ने यही सुनिश्चित किया है कि बैंक ऋण की कोई ख़ास वास्तविक मांग पैदा ही नहीं हो। दूसरे शब्दों में, यह पैकेज न तो लोगों की बदहाली को कम करता है, न ही मांग पैदा करता है और वास्तव में बैंकों से ऋणों के उठाए जाने में भी बढ़ोतरी नहीं करती है।

वैश्विक वित्तीय पूंजी की गुलामी

सरकार ने ऐसा निरर्थक पैकेज पेश क्यों किया है? यहां हमें एक और कारक का ज़िक्र करना होगा, जो इस सरकार की विचारहीनता के साथ गुंथा हुआ है। यह कारक है, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की मुंहदेखी करने की उसकी उत्कंठा। उसके ख़र्च करने के मामले में इतनी कंजूस होने की वजह यह है कि अगर वह ख़र्चा करेगी, तो राजकोषीय घाटा बढ़ जायेगा। उस सूरत में क्रेडिट रेटिंग एजेंसियां उसकी रेटिंग नीचे खिसका सकती हैं और इसके फलस्वरूप वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी हमारी अर्थव्यवस्था से उड़कर जा सकती है। मोदी सरकार में इसकी हिम्मत तो है नहीं कि ऐसी सूरत पैदा होने पर वित्त के बाहर जाने पर अंकुश लगा सके। इसके बजाय वह तो वित्तीय पूंजी के आगे घुटने टेकने को ही सुरक्षित समझती है। इसके लिए वह अपने ख़र्चे पर ही अंकुश लगा रही है। वैसे यह ग़रीबों के प्रति इस सरकार की निष्ठुरता से भी मेल खाता है। संक्षेप में यह कि जनता के हितों और वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी के फ़रमानों के बीच की इस टक्कर में, मोदी सरकार बड़ी मजबूती से वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी के साथ है। विडंबना यह है कि वही सरकार आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण की बातें कर रही है और वास्तव में आत्मनिर्भरता की लफ़्फ़ाज़ी का सहारा लेकर, वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी के आगे अपने दंडवत होने को ही ढांपने की कोशिश कर रही है।

इस प्रक्रिया की द्वंद्वात्मकता दर्ज करने वाली है। वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी के फ़रमानों और मेहनतकश अवाम के हितों के बीच का टकराव वैसे तो वैश्वीकरण के पूरे युग की ही पहचान है। फिर भी, जब तक भारत जैसी अर्थव्यवस्थाएं अपेक्षाकृत तेज़ी से बढ़ रही थीं, इस टकराव को कैसे न कैसे कर के ढांपा जा सकता था और वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी का वर्चस्व चुनौतीहीन बना रह सकता था। यह ऐसा दिखावा करने के ज़रिये ही किया जा सकता था कि आर्थिक वृद्धि अंतत: सभी को ख़ुशहाल बना देने वाली है। हालांकि, आर्थिक संवृद्धि से ऐसा कभी नहीं हुआ और वास्तव में नवउदारवादी दौर में मेहनतकश जनता की हालत पहले के मुक़ाबले बदतर ही हो गयी, फिर भी उक्त मिथक को बनाये रखना संभव था कि अगर तेज़ी से वृद्धि होती रहती है, तो भविष्य ज़रूर बेहतर होगा। लेकिन अब जबकि विश्व पूंजीवाद और उसके साथ ही साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने भी संकट आ गया है, उक्त टकराव को अब और ढांपकर नहीं रखा सकता है। वर्तमान महामारी ने हर जगह इस टकराव को उसके शिखर पर पहुंचा दिया है।

जिस समय भारत वित्तीय पूंजी के फ़रमानों पर नाच रहा है, अनेक देशों में सरकारों ने ऐसे बचाव-राहत पैकेज पेश किये हैं जिनमें सरकार के उल्लेखीय पैमाने पर ख़र्च करने का प्रस्ताव किया गया है और इन ख़र्चों के लिए संसाधन वित्तीय घाटे के ज़रिये जुटाये जा रहे हैं, जो कि वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी को पसंद नहीं है। संक्षेप में यह कि इन सरकारों को जनता की ज़रूरतों के सामने सिर झुकाना पड़ा है और वित्तीय पूंजी की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जाकर भी ऐसा करना पड़ा है। अब यह तो आने वाला समय ही बतायेगा कि यह प्रक्रिया आगे क्या दिशा लेती है? क्या यह कल्याणकारी राज्य की उन व्यवस्थाओं के पुनर्जीवन का रास्ता है जिन्हें पिछले चार दशकों में समेट दिया गया था या फिर महामारी के दौरान, कामगार जनता के लिए जो चिंता दिखायी दे रही है, एक बार महामारी के हटने की देर है, वित्तीय पूंजी के दबाव में काफ़ूर हो जायेगी?

दुनिया दोराहे पर

दरअसल, दुनिया इस समय एक दोराहे पर है। दुनिया के सबसे 'सम्मानित' पूंजीवादी अख़बारों में गिने जानेवाले लंदन के द *फाइनेंशियल टाइम्स* ने 3 अप्रैल 2020 के अपने एक संपादकीय में लिखा: 'पिछले चार दशकों में चलती रही नीतिगत दिशा को पलटने वाले मूलगामी सुधारों को सामने लाने की ज़रूरत है। सरकारों को अर्थव्यवस्था में कहीं ज़्यादा सक्रिय भूमिका स्वीकार करनी होगी। उन्हें जन सेवाओं को निवेश की तरह देखना चाहिए न कि बोझ की तरह और श्रम बाजारों को कहीं कम असुरक्षित बनाने के तरीक़ों की तलाश करनी चाहिए। पुनर्वितरण एक बार फिर एजेंडा पर होगा... बुनियादी आय तथा संपदा-कर जैसी जिन नीतियों को अभी हाल तक असंतुलित समझा जाता था, उन्हें नीति-मिश्रण में रखना होगा।'

यह बात ग़ौर करने वाली है कि मोदी सरकार की नीतियां, *फाइनेंशियल टाइम्स* जिस तरह की नीतियों की कल्पना कर रहा है, उनसे ठीक उल्टी हैं। भाजपा-शासित राज्यों में श्रम क़ानूनों को जिस तरह निरस्त किया जा रहा है (जो मोदी के अनुमोदन के बिना किया गया हो यह तो हो ही नहीं सकता), उसका मक़सद श्रम बाज़ार को और ज़्यादा असुरक्षित बनाना है, न कि कम असुरक्षित बनाना। पिछले ही दिनों कुछ भारतीय राजस्व सेवा के अधिकारियों को सिर्फ़ इसका सुझाव देने के लिए दंडित कर दिया गया कि अमीरों पर कहीं ज़्यादा कर लगाये जाने चाहिए। संक्षेप में यह कि मोदी सरकार अपनी विचारशून्यता में अब भी विकसित दुनिया के ऊंचे आसनों की दावत की मेज़ से 'चार दशक' पहले गिरे बौद्धिक टुकड़ों को ही बीनने में लगी हुई है और उसे इसका एहसास तक नहीं है कि दुनिया कहां की कहां निकल गयी है।

बहरहाल, दुनिया अब कहां पहुंच गयी है? *फाइनेंशियल टाइम्स* के उक्त संपादकीय से साफ़ है कि 'पिछले चार दशकों की नीतियों' को, जिसका अर्थ है नवउदारवादी नीतियों को, जो वैश्वीकरण के मौजूदा दौर की पहचान कराती हैं, बदलना ही होगा यानी 'पिछले चार दशक' का नवउदारवादी वैश्वीकरण एक बंद गली में पहुंच गया है। जिस तरह 1930 के दशक में विश्व पूंजीवाद, तब तक उसका जो रूप था उसमें, अंधे छोर पर पहुंच गया था और इस व्यवस्था को बचाने के ही लिए उसे बदलने की ज़रूरत आ खड़ी हुई थी, जिसे अनेक दूरंदेश पूंजीवादी चिंतकों ने रेखांकित किया था, ठीक उसी तरह से समकालीन विश्व पूंजीवाद अपने अंधे छोर पर पहुंच गया है और जैसे का तैसा चलता नहीं रह सकता है।

दिलचस्प है कि 8 मई को एक और संपादकीय प्रकाशित कर *फाइनेंशियल टाइम्स* ने लिखा: 'आज की हालत 1930 के दशक से मिलती है। उस ज़माने में, अमरीका के राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डेनालो रूज़वेल्ट से लेकर ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड केन्स तक, मध्यमार्गी उदारवादी यह समझ रहे थे कि उदार जनतांत्रिक पूंजीवाद को बचना है तो यह दिखाना होगा कि वह सभी के हक़ में काम कर रहा है। उनके विचारों की जीत ने, दूसरे विश्व युद्ध के बाद के दशकों में, पश्चिमी पूंजीवाद की सफलता के लिए मंच तैयार किया था। तब की ही तरह अब भी, पूंजीवाद के स्थानापन्न की ज़रूरत नहीं है, हालांकि उसकी मरम्मत करने की ज़रूरत हो सकती है।' हालांकि यह संपादकीय, महामारी के दौरान शासन के बहुत भारी हस्तक्षेप के विशेष संदर्भ में लिखा गया है, फिर भी इसके वृहत्तर निहितार्थ स्वत:स्पष्ट हैं। विश्व पूंजीवाद आज उसी तरह से अपने अंधे छोर पर पहुंच चुका है, जैसे 1930 के दशक में पहुंच गया था।

लेकिन वर्तमान पूंजीवाद में किसी भी बदलाव के लिए, जिसमें युद्धोत्तर दौर के तथाकथित 'कल्याणकारी पूंजीवाद' का पुनर्जीवन तक शामिल है, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के वर्चस्व के फंदे को ढीला करना पड़ेगा और इसलिए, ऐसे किसी भी बदलाव को वित्तीय पूंजी की ओर से कड़े विरोध का सामना करना पड़ेगा। इस तरह के

बदलाव की ज़रूरत पूंजीवादी चिंतकों की नज़रों में एकदम स्पष्ट होने का भी अर्थ यह नहीं है कि वित्तीय पूंजी, उसे जो वर्चस्व इस समय हासिल है, उसका स्वेच्छा से त्याग कर देगी। वास्तव में, 1930 के दशक का इतिहास ख़ुद ही इस बात की गवाही देता है।

केन्स ने तो मंदी की मारी ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में रोज़गार को बढ़ावा देने के लिए शासन के हस्तक्षेप की वकालत करना 1929 में ही शुरू कर दिया था। लेकिन 1929 की उनकी यह पुकार, कि रोज़गार पैदा करने के लिए राजकोषीय घाटे से वित्त पोषण करते हुए सार्वजनिक काम कराये जायें, जिसे लिबरल पार्टी के नेता लॉयड जार्ज के ज़रिये उठाया गया था, अनसुनी ही कर दी गयी थी। केन्स इसी पार्टी से जुड़े हुए थे। इस पुकार का विरोध इस सरासर खोखली दलील के ज़रिये किया गया था, जो इन दिनों में भी हमें काफ़ी सुनायी देती है कि, राजकोषीय घाटा कोई अतिरिक्त रोज़गार तो पैदा करता नहीं है, बस निजी निवेश को 'बाहर धकिया देता' है। केन्स ने इस दलील का खंडन किया था और 1936 के अपने महाग्रंथ में उन्होंने अपने रुख़ के सैद्धांतिक आधार को स्पष्ट किया था। लेकिन, इसका भी कोई असर नहीं हुआ। 1930 के पूरे दशक के दौरान उनकी इस मांग को पूरी तरह से अनदेखा ही किया जाता रहा था कि रोज़गार बढ़ाने के लिए ब्रिटेन में शासन की ओर से हस्तक्षेप किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार, रुज़वेल्ट की न्यू डील जब अमरीका की बेरोज़गारी की दर घटाने में कामयाब हो गयी, उसके बाद अमरीकी वित्तीय पूंजी ने रुज़वेल्ट पर दबाव डालकर उसे इससे पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। इससे तुरंत ही 1937 में अमरीका में एक और मंदी भड़क उठी। यह देश महामंदी से आख़िरकार तभी उबर पाया जब दूसरे विश्वयुद्ध की पूर्व-संध्या में उसने ख़ुद को हथियारबंद करना शुरू कर दिया।

आम बेरोज़गारी पर क़ाबू पाने के लिए, सकल मांग को बढ़ाने का विचार सरकारी नीति के तौर पर तो विश्वयुद्ध के बाद ही स्वीकार किया जा सका, जब विकसित देशों में मज़दूर वर्ग का वज़न पहले की तुलना में काफ़ी बढ़ गया। ब्रिटेन के युद्धोत्तर चुनावों में लेबर पार्टी की जीत और फ्रांस तथा इटली में कम्युनिस्टों की ताक़त में भारी बढ़ोतरी, इसी के संकेतक थे। और दूसरी ओर, लाल सेना पश्चिमी योरप के दरवाज़े तक पहुंच चुकी थी और 'कम्युनिस्ट सत्ता अधिग्रहण' की आशंकाएं जतायी जाने लगी थीं। अंतत: इस परिस्थिति-संयोग ने ही वित्तीय पूंजी को ऐसी रियायतें देने के लिए मजबूर किया था, जो वह इससे पहले तक देने के लिए तैयार ही नहीं थी।

दूसरे शब्दों में, जब प्रमुख पूंजीवाद-समर्थक चिंतक तक ये रियायतें देना ख़ुद पूंजीवादी व्यवस्था की सलामती के लिए ज़रूरी मानते हों, तब भी वित्तीय पूंजी स्वेच्छा से ऐसी रियायतें देने के लिए तैयार नहीं होती है। यह सोचना कि ऐसा नहीं होगा, उसी जाल में फंसना होगा, जिसमें फंसकर केन्स ने यह ख़ुशफ़हमी पाल ली थी कि दुनिया पर विचार ही राज करते हैं और इसलिए 'सही विचार' (जैसे कि उसके विचार) वक़्त के साथ ख़ुद ब ख़ुद ज़ोर पकड़ ही लेंगे। उल्टे दुनिया किस रास्ते पर जायेगी, इसका फ़ैसला अंतत: वास्तविक ज़िंदगी के वर्ग संघर्ष से होता है, जिसके पीछे बेशक विचारों का आधार भी रहता है।

मज़दूर वर्ग का ऐतिहासिक किरदार

इसलिए, समकालीन पूंजीवाद को पिछले दौर के तथाकथित 'कल्याणकारी पूंजीवाद' की दिशा में मोड़ने के लिए भी, यह बहुत ही ज़रूरी होगा कि मज़दूर वर्ग ऐसे एजेंडा के लिए संघर्ष करे। लेकिन, जब मज़दूर वर्ग ऐसा करेगा और जब अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी ऐसे एजेंडा का प्रतिरोध कर रही होगी, हम वर्ग संघर्ष के बीचों-बीच होंगे। अब यह तो समय ही बतायेगा कि यह संघर्ष सिर्फ़ 'कल्याणकारी पूंजीवाद' का पुनर्जीवन हासिल करने तक सीमित रहता है या फिर पूंजीवाद को ही लांघकर, समाजवादी विकल्प की ओर बढ़ जायेगा। एक बार जब व्यवस्था के वर्तमान रूप को बदलने के लिए वर्गीय संघर्ष गति पकड़ लेता है, इस संघर्ष का नतीजा अमल पर निर्भर करता है और कोई ज़रूरी

नहीं है कि यह नतीजा मौजूदा व्यवस्था के ही दायरे में कैद रहे।

बहरहाल, भारत की सत्ताधारी ताक़त इस वैश्विक परिस्थति संयोग की तरफ़ से पूरी तरह से अनजान ही बनी हुई है। नवउदारवाद का अंधे छोर पर पहुंच जाना, जो विकसित दुनिया के पूंजीवादी चिंतकों तक को दिखायी दे रहा है, हमारी हिंदुत्व पलटन को दिखायी ही नहीं दे रहा है। न सिर्फ़ इतना कि मोदी सरकार अब भी आम तौर पर नवउदारवादी एजेंडा के साथ ख़ुद को बांधे हुए है, बल्कि वह तो वर्तमान महामारी तथा उस पर अपनी विचारहीन प्रतिक्रिया के चलते फूट पड़े भारी मानवतावादी संकट के बीच भी, इस एजेंडा से टस से मस नहीं हुई है।

भारत सरकार के इस रुख़ और योरपीय सरकारों के रुख़ के बीच के भारी अंतर को, *फाइनेंशियल टाइम्स* के 8 मई के संपादकीय में जो कहा गया है, उससे देखा जा सकता है: 'कम्युनिस्ट क्रांति से कम में इसकी कल्पना करना मुश्किल था कि कैसे सरकारें इतनी तीव्र गति से तथा इतनी गहराई से श्रम के, ऋण के, मालों व सेवाओं के विनिमय के निजी बाज़ारों में हस्तक्षेप कर सकती थीं, जैसे लॉकडाउनों के पिछले दो महीनों में किया है। रातों-रात निजी क्षेत्र के करोड़ों कर्मचारियों को सार्वजनिक बजट से अपने वेतन के चैक मिलने लगे हैं और केंद्रीय बैंकों ने वित्तीय बाज़ारों को इलैक्ट्रोनिक धन से पाट दिया है।'

इसके विपरीत भारत में, सरकारी बजट से निजी क्षेत्र के कर्मचारियों को वेतन दिया जाना तो दूर रहा, सरकार ने करोड़ों मेहनतकशों को, जिनमें 14 करोड़ प्रवासी मजदूर शामिल हैं (जिनमें करीब 10 करोड़ अंतरराज्यीय प्रवासी हैं), उनकी आमदनियों, रोज़गारों तथा रिहाइशों से ही महरूम कर दिया है और उन्हें इसके मुआवज़े में एक पैसा नहीं दिया है। बेशक, यह एक हद तक मोदी सरकार की घोर अमानवीयता का नतीजा है। लेकिन, एक हद तक यह वित्तीय पूंजी के आगे उसकी घोर कायरता का भी नतीजा है, जिसे वह नागरिक स्वतंत्रताओं व जनतांत्रिक अधिकारों को नकारने के ज़रिये और जनता को बांटने के लिए सांप्रदायिक एजेंडे को आगे बढ़ाने के ज़रिये, चलाते रहना चाहती है।

लेकिन, 'पिछले चार दशक' से जिस रास्ते पर चला जा रहा है उसी पर चलते रहने और नवउदारवाद के अंधे छोर पर पहुंच गये होने को नहीं पहचानने का मतलब, उसी अंधे छोर पर फंसे रहना भी तो है। और इसका मतलब होगा, और ज़्यादा तानाशाहीपूर्ण-फ़ासीवादी क़दमों और सांप्रदायिक बंटवारे की और भी घृणित कोशिशों का सहारा लिया जाना। मेहतनकश जनता को इस समूचे खेल के ख़िलाफ़ लड़ना होगा और नवउदारवाद के अंधे छोर से आगे बढ़ने का रास्ता दिखाना होगा।

मो0 9953057998

प्रस्तुति : संजीव कुमार

मो0 9818577833

कोरोना काल : प्रवंचनाओं के संदर्भ-3

कोविड-19 का दौर और श्रमिक वर्गीय आंदोलन

जे. एस. मजूमदार

कोविड-19 से संबंधित दो मूल बातों को रेखांकित करना आवश्यक है : पहली, इस राष्ट्रीय आपदा के प्रबंधन के बारे में और दूसरी, स्वयं कोविड-19 के बारे में।

आपदा प्रबंधन के बारे में

कोविड-19 से संबंधित लॉकडाउन और अन्य दिशा-निर्देश राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन प्राधिकरण द्वारा जारी किये जा रहे हैं। आपदा प्रबंधन अधिनियम, 2005 के तहत यह एक 9 सदस्यीय प्राधिकरण है जिसके सदस्य 5 साल के लिए नियुक्त किये जाते हैं। अध्यक्ष होने के नाते प्रधानमंत्री इसके सर्वोच्च प्राधिकारी होते हैं। प्राधिकरण के निर्णयों को निष्पादित करने के लिए एक राष्ट्रीय कार्यकारी समिति होती है। प्राधिकरण के निर्णयों का पालन केंद्र और राज्य सरकारों के लिए बाध्यकारी है। राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन प्राधिकरण को (i) ट्रेड यूनियन अधिकारों सहित नागरिक स्वतंत्रता में कटौती करने, (ii) केंद्र-राज्य संबंधों और संघीय अधिकारों पर अंकुश लगाने, और (iii) प्रतिबंध लगाने को लेकर असाधारण अधिनायकवादी शक्ति मिली हुई है।

कोविड-19 के बारे में

यह कोरोना समूह का एक वायरस है जिसे विश्व स्वस्थ्य संगठन द्वारा कोरोना वायरस रोग 2019 (कोविड-19) नाम दिया गया है। इस वायरस के ख़िलाफ़ अभी कोई दवा उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध है, वह केवल एंटीबॉडी है, जिसे शरीर के प्रतिरक्षा तंत्र के माध्यम से विकसित किया गया है। यह हमें आत्म-रक्षात्मक तंत्र और / या उधार लिये गये अर्थात टीकाकरण के ज़रिये वायरस से बचाता है। कोविड-19 कोरोना वायरस समूह का एक नया वायरस है जिसे हाल ही में पशु से मानव में प्रेषित किया गया है; और इसलिए मानव शरीर में प्रतिरक्षा प्रणाली के माध्यम से एंटीबॉडी विकसित नहीं हो पाया है। इस वायरस के ख़िलाफ़ टीका विकसित करने में अभी समय लगेगा। तेज संक्रमण और अधिक मृत्यु दर के कारण यह महामारी फैली; और इसलिए लॉकडाउन और प्रतिबंधों का औचित्य बनता है। लेकिन, इन उपायों से हम एक्सपोज़र की प्रक्रिया को केवल लंबा कर रहे हैं या और आगे टाल रहे हैं। पर सवाल है कि शरीर की प्रतिरोधक क्षमता कैसे विकसित होगी। इसके बारे में किसी को भी अभी तक कोई सुराग़ नहीं मिला है। कोविड-19 स्थायी रूप से हमारे साथ रहने वाला है क्योंकि हम छोटे चेचक और चिकन पॉक्स वायरस के साथ जी ही रहे हैं, भले ही टीकाकरण के कारण लोगों में इससे बीमार पड़ने की संभावना कम हो गयी। इसी तरह हम कोविड-19 के ख़िलाफ़ भी तंत्र विकसित कर लेंगे और भविष्य में सुरक्षात्मक उपाय अपनाते हुए इसके साथ रहेंगे।

कोविड-19 की आड़ में पूंजीवाद को मज़बूत करने का अभियान

कहा जाता है कि महामारी के कारण या वैसे भी युद्ध और संकट हमेशा शासकों की मदद करते हैं। यह कोविड-19 के लिए भी सही है। यहां महामारी इसकी अधिक बड़ी वजह है। पूंजीवादी विकास की राह पर चल रहे देश इस कोविड-संकट के दौरान पूंजीवाद को और मज़बूत कर रहे हैं तथा मेहनतकश जनता के विशाल समूह पर दुःख का पहाड़ लाद रहे हैं। पूंजीवादी व्यवस्था की यह हक़ीक़त हमेशा से रही है। उदाहरण के लिए, जब नवउदारवादी नीतियां विफल हो गयीं, तो शुरुआती बढ़ावे के बाद, पूंजीवादी देशों ने कॉर्पोरेट द्वारा सार्वजनिक निधि और व्यक्तिगत बैंक जमाओं को हड़पने के लिए 'बेल-आउट' और / या 'बेल-इन' पैकेजों को दिया। इसी तरह 2007 के अंत या 2008 के आरंभ में जब विश्वस्तर पर आर्थिक संकट चल रहा था,तब भी विकसित पूंजीवादी देशों ने आईएमएफ़ और यूरोपीय सेंट्रल बैंक के निर्देश पर रोज़गार, पेंशन और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर कटौती की।

कामगारों, किसानों और अन्य मेहनतकश तबक़ों पर सबसे बड़ी चोट

कोविड-19 के कारण आपदा प्रबंधन प्राधिकरण के आदेश द्वारा 25 मार्च 2020 को भारत में देशव्यापी लॉकडाउन और प्रतिबंध लगाये गये थे। इसे समय-समय पर नये दिशानिर्देशों के साथ बढ़ाया जा रहा है। रोग के फैलाव के आधार पर लॉकडाउन संबंधी दिशानिर्देशों में सख्ती और नरमी का रुख़ लंबे समय तक देखने को मिलेगा । कोविड -19 लॉकडाउन से बड़ी संख्या में प्रवासी मज़दूरों, किसानों, मेहनतकश तबक़ों और अन्य हाशिये के लोगों पर दुख का पहाड़ टूट पड़ा है। गांवों में रह रहे अपने प्रियजनों की चिंता से परेशान बेरोज़गार, ग़रीब, आश्रयहीन, भूखे लोग लॉकडाउन की वजह से रेल या सड़क परिवहन की नियमित सुविधा न होने के कारण अपने घर नहीं लौट पा रहे रहे थे । ऐसे में करीब 10 करोड़ से अधिक प्रवासी मज़दूरों और अन्य प्रवासी ग़रीबों को अपने बोरिया-बस्तर के साथ हज़ारों किलोमीटर पैदल चलने के लिए मजबूर होना पड़ा। उनमें से सैकड़ों भूख और हादसे से सड़कों व रेल पटरियों पर और कुछ तो हाल में ट्रेन के अंदर मर गये । सहानुभूति के बदले पुलिस और प्रवर्तन अधिकारियों द्वारा उन्हें सड़कों और राज्य सीमाओं पर अपमानित और प्रताड़ित किया गया। उन पर क्रूर हमले किये गये। यह राष्ट्रीय त्रासदी और शर्म इस बात का प्रमाण है कि भारतीय गणराज्य के गठन के 70 साल बाद भी श्रमिकों की बदहाली कम नहीं हुई है।

लॉकडाउन के कारण कृषि क्षेत्र को बहुत नुक़सान हुआ। कटाई में देरी या फ़सल की हानि से कृषि श्रमिकों को अपने काम और आजीविका से हाथ धोना पड़ा। किसानों को अपने कृषि उत्पादों के लिए फ़सल-हानि, बाज़ार-हानि और मूल्य-हानि का सामना करना पड़ा। लॉकडाउन के कारण हाशिये के वर्गों की भी दिन-प्रतिदिन की आजीविका चली गयी।

अधिनायकवादी शासन लागू करना

कोविड-19 लॉकडाउन के दौरान केंद्र में लोकतांत्रिक और संसदीय प्रणाली पर अंकुश लगाने के लिए एक अधिनायकवादी शासन स्थापित किया गया है जो लॉकडाउन के नाम पर पर पुलिस बल के इस्तेमाल द्वारा लोगों की गिरफ़्तारी करता है, उन्हें हिरासत में रखता है और भीड़ को तितत-बितर करके श्रमिकों और लोगों के विरोध के अधिकार को दबा रहा है।

पूंजीवाद को मज़बूत करना

सत्तारूढ़ शक्तियां पूरी आक्रामकता और ताक़त के साथ भारत में पूंजीवाद को मज़बूत कर रही हैं। 'आत्मनिर्भर भारत' के नाम पर प्रधानमंत्री लोगों को गुमराह कर रहे हैं । नीति आयोग ने जिस तरह से मौजूदा स्थिति का विश्लेषण किया है, उसमें पूंजीवाद को मज़बूत करने का दृष्टिकोण साफ़ झलकता है। इसके पांच बिंदु वाले निष्कर्ष इस प्रकार हैं:

(i) घर से काम (डब्ल्यूएफ़एच): नीति आयोग के अनुसार डब्ल्यूएफ़एच में किसी भी काम के लिए 8 घंटे की दैनिक सीमा जैसी बंदिशों से मुक्त होने की ओर प्रोत्साहित करने का सबसे अच्छा समय है। डब्ल्यूएफ़एच टुकड़ों में किया जाने वाला काम बन जायेगा और वह भी, अनुबंध के आधार पर। इससे ऑफ़िस स्पेस और अन्य परिवहन लागत आदि पर होने वाले ख़र्च में भी बचत होगी।

(ii) चीन से आपूर्ति शृंखला को तोड़ना: नीति आयोग के अनुसार, कोविड-19 महामारी के कारण एक ऐसी वैश्विक स्थिति बनी है जो चीन की बाहरी आपूर्ति शृंखला को तोड़ देगी और इससे भारत जैसे देश के लिए दवाओं के कच्चे माल, मोबाइल पार्ट्स, ऑटो-पार्ट्स आदि की आपूर्ति की संभावना बढ़ेगी। इस स्थिति में केंद्र सरकार यह अनुमान लगा रही है कि कई बहुराष्ट्रीय निगम अपनी उत्पादन इकाइयों को चीन से हटाकर उन दूसरे देशों में स्थानांतरित कर देंगे जहां श्रम सस्ता है और अन्य परिस्थितियां उनके अनुकूल हैं।

भारत इस अवसर को लपकने के लिए कई अन्य देशों के साथ स्पर्धा कर रहा है और इसलिए यहां केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा

(i) निजी उद्योग-मालिकों के पक्ष में 'श्रम सुधार'किये जा रहे हैं;

(ii) एफ़डीआई मानदंडों को कम किया जा रहा है ;और

(iii) निगमीकरण और निजीकरण को गति दी जा रही है ।

केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा पूंजी समर्थक श्रम सुधार

केंद्र सरकार चार श्रम संहिताओं में से तीन को संसद से पारित कराने का प्रयास कर रही है। मज़दूरी संबंधी कोड पहले ही पारित हो चुका है और अब अधिनियम बन गया है । औद्योगिक संबंध (आईआर) और ओएसएच से जुड़े कोड श्रम से संबंधित संसदीय स्थायी समिति के समक्ष रखे गये थे। इन दोनों रिपोर्टों को कोविड-19 लॉकडाउन के दौरान जल्दबाज़ी में स्पीकर को प्रस्तुत किया गया। स्थायी समिति में माकपा, भाकपा और द्रमुक सदस्यों ने असहमति के नोट प्रस्तुत किये। केंद्र सरकार के श्रम मंत्री ने नियोक्ताओं के पक्ष में राज्यों में श्रम सुधार शुरू करने, विशेष रूप से काम के घंटे बढ़ाने को लेकर कुछ मुख्यमंत्रियों से बात की । उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात, पंजाब और कुछ अन्य राज्य सरकारों ने कार्यकारी आदेश के माध्यम से जल्दबाज़ी में काम के घंटे बढ़ा दिये । इसके बाद केंद्र सरकार के श्रम मंत्रालय ने 5 मई 2020 को राज्य सरकारों को एक परामर्श पत्र जारी किया है जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित का सुझाव दिया गया है :

1.'इसके तहत कार्रवाई करने की अपेक्षा है'

2. 'कोविड-19 को देखते हुए काम के घंटे को एक दिन में 8 से बढ़ाकर 12 घंटे कर दिया जाये'

अब तक 15 राज्य सरकारों ने इस तरह के नोटिफ़िकेशन जारी किये हैं। इसके अलावा उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और गुजरात जैसे कुछ राज्य सरकारों ने अगले 3 वर्षों / 1000 दिनों के लिए मौजूदा श्रम क़ानूनों को निष्क्रिय कर दिया है।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ़डीआई) संबंधी मानदंडों में ढील

केंद्र सरकार ने स्वचालित मार्ग के माध्यम से एफ़डीआई की घोषणा की और सामरिक, रक्षा उत्पादन जैसे रणनीतिक क्षेत्रों में भी राज्य / घरेलू होल्डिंग्स को कम किया।

निगमीकरण और निजीकरण

रेलवे, ऑर्डिनेंस फ़ैक्ट्रियों का निगमीकरण; रक्षा उत्पादन की आउटसोर्सिंग; वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए कोयला खानों का निजीकरण, यहां तक कि अंतरिक्ष अनुसंधान और परमाणु ऊर्जा जैसे क्षेत्रों में भी पीपीपी मॉडल लागू करके देश की सुरक्षा के साथ समझौता किया जा रहा है।

जानबूझ कर क़र्ज़ न चुकाने वाले कॉर्पोरेट (विलफुल डिफ़ॉल्टर्स)को टैक्स रियायत

कारोबार में विफल हो चुके कॉरपोरेट्स को 5 लाख करोड़ रुपये की भारी कर रियायत दी गयी है। चोकसी, विजय माल्या जैसे अन्य भगोड़ों सहित अनेक विलफुल कॉरपोरेट डिफ़ॉल्टरों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों से लिये गये ऋणों को माफ़ कर दिया गया है। ऐसा उन्हें निजीकरण का फ़ायदा लेने और पीपीपी मॉडल में शामिल होने में मदद करने के लिए किया गया है।

टेली-मेडिसिन के क्षेत्र में व्यापक वृद्धि

नीति आयोग इस नतीजे पर पहुंचा है कि कोविड-19 से टेली- मेडिसिन के क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि देखने को मिलेगी। आईटी के माध्यम से डॉक्टर-रोगी-पर्चे के बीच के संबंध बदल जायेंगे। नीति आयोग जो सुझाव दे रहा है,वह सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के नेटवर्क को बदलने का एक तंत्र है जिसकी अपर्याप्तता कोविड-19 परीक्षण और उपचार के दौरान साफ़ झलक रही है। बीमा संचालित ये स्वास्थ्य सेवाएं पहले से ही मौजूद 'आयुष्मान भारत योजना'तथा लूप के निजी अस्पतालों में लागू बीमा सेवाओं के अतिरिक्त हैं।

ई-कॉमर्स, ई-फ़ार्मेसी जैसे संपर्क रहित वितरण में वृद्धि

नीति आयोग कोविड-19 को ख़ुदरा व्यापार में ई-कॉमर्स और ई-फ़ार्मेसी को बढ़ावा देने के अवसर के रूप में मानता है। ख़ुदरा व्यापारों के निगम सहित अमेज़ॅन जैसे विदेशी बड़े कॉरपोरेट करोड़ों लोगों के रोज़गार और आजीविका को बुरी तरह प्रभावित करेंगे। भारत में ख़ुदरा व्यापार जीडीपी के 10% के लिए ज़िम्मेदार है। यह देश की कुल आबादी का 3.3% या लगभग 4 करोड़ है और कृषि क्षेत्र के बाद यह दूसरा स्थान रखता है। परिवार के सदस्यों सहित लगभग 20 करोड़ लोगों की आजीविका इस पर निर्भर है। ई-फ़ार्मेसी इस कॉरपोरेटाइज़ेशन ड्राइव का एक हिस्सा है, जिसका उद्देश्य स्व-नियोजित 5.5 लाख ख़ुदरा दवा विक्रेताओं और उनके 12 लाख से अधिक कर्मचारियों को हटाना है। ऑल इंडिया ऑर्गेनाइज़ेशन ऑफ केमिस्ट्स एंड ड्रगिस्ट पहले से ही ई-फ़ार्मेसी के ख़िलाफ़ हड़ताल और आंदोलन कर रहे हैं।

संरचनात्मक सुधारों की नीति

नीति आयोग का निष्कर्ष कोविड-19 महामारी का लाभ उठाते हुए संरचनात्मक सुधारों की नीति को तेज़ी से अपनाने की बात करता है। श्रम, एफ़डीआई, सहकारिता और निजीकरण, कर रियायतों आदि में संरचनात्मक

सुधारों के लिए कुछ नीतियां पहले से ही लागू हैं और कुछ क़तार में हैं।

प्रधानमंत्री का 20 लाख करोड़ का *'आत्मनिर्भर भारत'*, कोविड-19 राहत कोष और वित्त मंत्री का पंचसूत्री पैकेज

इस बड़े संरचनात्मक परिवर्तन के लिए प्रधानमंत्री ने 20 लाख करोड़ रुपये के *'आत्मनिर्भर भारत'* कोविड-19 राहत कोष की घोषणा की है। प्रधानमंत्री की घोषणा के तुरंत बाद केंद्रीय वित्त मंत्री के पांच भागों वाले धारावाहिक भाषणों में *'आत्मनिर्भर भारत'* बनाने के लिए इस राहत कोष के पंचसूत्री पैकेजों की घोषणा की गयी। सीटू ने इसे *'विदेशीकरण'* की ओर बढ़ाये गये क़दम के साथ-साथ'कॉरपोरेट्स का सशक्तीकरण'और 'मेहनतकश वर्गों-श्रमिकों, किसानों, कृषि श्रमिकों और ऐसे अन्य वर्गों का विघटन'तथा 'विनाश और विऔद्योगिकीकरण' क़रार दिया है। यह 20 लाख करोड़ रुपये का कोविड-19 राहत कोष एक गणितीय बाज़ीगरी है जिसमें आरबीआई द्वारा पहले से ही घोषित सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की तरलता; ऋण; कर वसूली में देरी; ईपीएफ़ योगदान आदि शामिल है जबकि सरकार का वास्तविक योगदान 50 हज़ार करोड़ रुपये से अधिक नहीं है। पहली और दूसरी खेप में प्रवासी श्रमिकों और श्रम केन्द्रित एमएसएमई को राहत देने घोषणा की गयी है। ये घोषणाएं असत्य और विकृतियों से भरी हैं। वित्त मंत्री ने तत्काल राहत पर न बोलकर भविष्य के आवास और अवसंरचनात्मक विकास के बारे में अधिक बात की है। हर महीने 5 किलो प्रति व्यक्ति खाद्यान्न और 1 किलो प्रति परिवार चना बांटने की घोषणा सवाल उठाने लायक़ है क्योंकि उद्देश्य की ईमानदारी और पहचान के उपकरणों की अनुपस्थिति के कारण अतीत में ऐसी राहत 80% लाभार्थियों तक पहुंची ही नहीं।

पैकेज में एमएसएमईसहित अन्य व्यवसायों के लिए 3 करोड़ रुपये की आपातकालीन कार्यशील पूंजी की सुविधा शामिल है। इसे बड़े व्यवसायों के लिए डिज़ाइन किया गया है, ताकि वे इसे हड़प सकें। तीसरी खेप भूमि प्रबंधन और कृषि उपज पर है। पैकेज को भूमि बैंक के निर्माण के माध्यम से एसईज़ेड के लिए कृषि भूमि प्राप्त करने में सहूलियत देने; कृषि और अनुबंध खेती के निगमीकरण; और खाद्य सुरक्षा को ख़तरे में डालकर खाद्यान्नों की निजी ख़रीद; कृषि उत्पाद विपणन समितियों को बेदख़ल करके नि:शुल्क विपणन; आवश्यक वस्तु अधिनियम में संशोधन और कृषि उत्पादों के मुक्त व्यापार, निर्यात और अग्रिम व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए सीमा शुल्क हटाने जैसे उद्देश्यों के लिए डिज़ाइन किया गया है। देश की सुरक्षा से समझौता करते हुए, चौथी खेप में कारपोरेटों ख़ासकर विदेशी कंपनियों को एक बड़ा बोनस दिया गया है, जिसमें रक्षा उत्पादन में स्वचालित मार्ग से 74 प्रतिशत की हिस्सेदारी, कोयला और अन्य खनिजों में स्वचालित मार्ग से 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ़डीआई); विमानन क्षेत्र का निजीकरण; केंद्रीयकृत प्राधिकरण की स्थापना के साथ बिजली संशोधन बिल 2020 के माध्यम से सबसे महत्वपूर्ण सार्वजनिक उपयोगिता वाले बिजली क्षेत्र का निजीकरण, सब्सिडी को चरणबद्ध तरीक़े से समाप्त करना; अंतरिक्ष अनुसंधान और परमाणु ऊर्जा का निजीकरण शामिल है। पैकेज की पांचवी खेप के तहत मोदी सरकार के पूंजी सुधार के एजेंडे में संघीय व्यवस्था पर बड़ा हमला किया गया है। इसमें बिजली सुधारों को स्वीकार करना, किसानों से मुफ़ बिजली की सुविधा और 'व्यापार करने में आसानी' हेतु अन्य शर्तें वापस लेना आदि शामिल हैं।

मज़दूर वर्ग का प्रतिरोध

भाजपा-आरएसएस सरकारों के श्रम क़ानूनों पर हमले ऐतिहासिक और संवैधानिक दिशा के ख़िलाफ़ रहे हैं। ऐतिहासिक दिशा को समझने के लिए भारत में मज़दूर वर्ग के आंदोलन से संबंधित पांच महत्वपूर्ण बिंदुओं को

रेखांकित करना आवश्यक है कि (1) स्वतंत्रता आंदोलन का हिस्सा बनने के लिए श्रमिक वर्ग का आंदोलन स्वतःस्फूर्त विकसित हुआ और, पहले केंद्रीय ट्रेड यूनियन संगठन के गठन के बाद, ट्रेड यूनियन आंदोलन एकजुट बना रहा और स्वतंत्रता आंदोलन का अभिन्न अंग बना; (2) श्रम क़ानून राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान और स्वतंत्र भारत में भी श्रमिक वर्ग के शानदार संघर्षों के परिणाम हैं; (3) मज़दूर वर्ग को एकजुट रखने और सहयोग की लाइन के ख़िलाफ़ संघर्ष की स्थिति बहाल करने की जद्दोजहद चलती रही; (4) सत्ता समीकरणों में बदलाव के बावजूद एकता और संघर्ष के माध्यम से नवउदारवादी सुधारों को धीमा किया जा सकता है और उनका विरोध किया जा सकता है; और (5) विरासत में मिली उपर्युक्त चारों स्थितियों के रहते भारत में श्रमिक वर्गीय आंदोलन कोविड-19 के दौरान कॉर्पोरेट समर्थक चुनौतियों का प्रभावी रूप से सामना करने में सक्षम होगा और मज़बूत होकर उभरेगा।

स्वतंत्रता आंदोलन के अभिन्न अंग के रूप में श्रमिक वर्गीय आंदोलन

उन्नीसवीं सदी के मध्य में देश के औद्योगिकीकरण के साथ, किसी संगठित ट्रेड यूनियन के बिना हड़ताल की कार्रवाई के रूप में सहज ही श्रमिक आंदोलन विकसित हुए। बाद में स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं के नेतृत्व में श्रमिकों के समूह बने। स्वतंत्रता सेनानी बाल गंगाधर तिलक के 6 साल के कारावास के विरोध में 1908 में बंबई में श्रमिकों की 6 दिनों की सामान्य हड़ताल ने मज़दूर वर्ग के आंदोलन को स्वतंत्रता आंदोलन का अहम हिस्सा बना दिया।

प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम श्रमिकों और लोगों के लिए अनकहे दुखों से भरे थे। स्वतंत्रता आंदोलन को गति देने; श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में पहली मज़दूर वर्ग की क्रांति और सोवियत संघ के रूप में 'वर्किंग क्लास स्टेट' की स्थापना का प्रभाव; 1918 में बी. पी. वाडिया द्वारा मद्रास लेबर यूनियन के रूप में आधुनिक ट्रेड यूनियन का गठन; 1919 में प्रथम विश्व युद्ध की वर्साय संधि के अनुसार आईएलओ का गठन; इन सभी के प्रभाव से स्वतंत्रता सेनानी और लोकतांत्रिक लाला लाजपत राय के नेतृत्व में भारत में पहले केंद्रीय ट्रेड यूनियन का गठन हुआ।

श्रमिक आंदोलन और उनके क्रांतिकारी नेतृत्व की पहचान को नियंत्रित करने के उद्देश्य से उनके पंजीकरण और प्रमाणन के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1926 में ट्रेड यूनियन अधिनियम लागू किया। देश में व्यापक हड़ताल की लहर को नियंत्रित करने और किसी भी हड़ताल को 'अवैध' घोषित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने व्यापार विवाद अधिनियम, 1928 पेश किया जिसके ख़िलाफ़ शहीद भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने 8 अप्रैल, 1929 को केंद्रीय विधान सभा में बम फेंका और भारत के मज़दूर वर्ग को उनका क्रांतकारी नारा 'इंकलाब जिंदाबाद' भेंट किया। इस घटना के बाद 31 ट्रेड यूनियनों के नेताओं और कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया और उनके ख़िलाफ़ सालों तक मेरठ का मुक़दमा चलता रहा। ट्रेड यूनियन आंदोलन किसानों के संगठन और उनके आंदोलन के साथ-साथ छात्रों के संगठन और उनके आंदोलन के गठन के पूरक के रूप में स्वतंत्रता आंदोलन का हिस्सा बना रहा। स्वतंत्रता की पूर्व संध्या तक एक ही केंद्रीय ट्रेड यूनियन की साझा छतरी के नीचे ट्रेड यूनियनों की एकता बनी रही।

श्रम क़ानून और संवैधानिक दिशा

मज़दूर वर्ग के संघर्ष, उनकी एकता और स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी भागीदारी के कारण श्रम क़ानूनों की आवश्यकता और भारत के संविधान में इन्हें नीति निर्देशक सिद्धांत के तहत शामिल करने के लिए ज़मीन तैयार हुई। भारत के संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों के तहत, अनुच्छेद 43 में यह परिकल्पना है कि *'राज्य ...सभी*

कामगारों को काम, निर्वाह मज़दूरी, शिष्ट जीवनस्तर ...प्राप्त कराने का प्रयास करेगा ।' स्वतंत्रता प्राप्त करने के तत्काल बाद औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, 1948, कारख़ाना अधिनियम 1948, ईपीएफ़ अधिनियम 1952 सहित कई श्रम क़ानूनों को लागू किया गया था। 1957 में आयी 15वीं आईएलसी सिफ़ारिशों के पांच मानदंडों के आने से न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम में गंभीर परिणामी परिवर्तन हुए जिसे सर्वोच्च न्यायालय के 1992 के रप्राकोस ब्रेट 'फ़ैसले का भी समर्थन मिला और उसमें में एक और मानदंड जुड़ गया। ट्रेड यूनियन आंदोलन ने स्वतंत्र भारत में अपनी हड़ताल और संघर्ष जारी रखते हुए बोनस अधिनियम 1965; अनुबंध श्रम अधिनियम 1970; ग्रेच्युटी एक्ट, 1972; अनुबंध श्रम कल्याण बोर्ड अधिनियम 1996 आदि अर्जित किये । भाजपा-आरएसएस सरकारों द्वारा किया जा रहा श्रम क़ानूनों का निलंबन इन ऐतिहासिक और संवैधानिक निर्देशों के विरुद्ध है।

वर्गीय एकता की बहाली और वर्ग सहयोग की लाइन के ख़िलाफ़ वर्ग संघर्ष की लाइन

ट्रेड यूनियनों की एकता और वर्ग सहयोग की लाइन के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग का संघर्ष आजादी के बाद ट्रेड यूनियन आंदोलन के समक्ष महत्वपूर्ण एजेंडा बन गया। ट्रेड यूनियनों की एकता, जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता की पूर्व संध्या तक जारी रही, सत्ता में आने से ठीक पहले कांग्रेस द्वारा तोड़ दी गयी। पूर्ववर्ती ब्रिटिश सरकार की भांति भारत में श्रमिक आंदोलन को नियंत्रित करने के लक्ष्य के साथ सरदार बल्लभ भाई पटेल द्वारा 3 मई, 1947 को इंटक (INTUC) का गठन किया गया। इसके बाद 1948 में HMS, 1949 में UTUC, 1955 में BMS तथा 1958 में UTUC (LS) का गठन हुआ । ट्रेड यूनियनों के विभाजन के कारण कांग्रेस शासकों के साथ सत्ता में सहयोग की भी शुरुआत हुई।

कई कारणों से ऐटक (एआईटीयूसी) ट्रेड यूनियनों के विभाजन की इस प्रक्रिया को उलटने में विफल रहा। वह भी सहयोग की लाइन में शामिल हो गया, जिसके कारण 1974 के ऐतिहासिक रेल हड़ताल के क्रूर दमन और बाद में देश में आपातकालीन शासन का इसने समर्थन किया। ऐटक के अंदर के इस माहौल के बीच ट्रेड यूनियन की एकता के माध्यम से मज़दूर वर्ग की एकता और सहयोग की लाइन के ख़िलाफ़ संघर्ष की बहाली के लिए 'एकता और संघर्ष' के स्पष्ट आह्वान के साथ 30 मई 1970 को सीटू का गठन हुआ। इसके कारण सहयोग लाइन पर एनसीटीयू और संघर्ष लाइन पर जेसीटीयू का गठन हुआ। उस समय सबसे लोकप्रिय एनपीएमओ सहित कई अंतरिम ट्रेड यूनियनों, मंचों और जन संगठनों की स्थापना के साथ एकता और संघर्ष की लाइन मज़बूत हुई।

आपातकाल के बाद के दौर में आपातकालीन शक्तियों की हार के बाद, एकता और संघर्ष की लाइन बलवती हुई, जो 1978 में आईआर बिल के ख़िलाफ़ हुई ऐतिहासिक रैली में दिखायी दी। इसके बाद 19 जनवरी 1982 को स्वतंत्र भारत में मज़दूरों की पहली आम हड़ताल हुई जिसमें अन्य मेहनतकश वर्ग भी शामिल हुए । भारत बंद का नेतृत्व करने के कारण इसे क्रूर दमन का सामना करना पड़ा। देश के विभिन्न हिस्सों में पुलिस द्वारा की गयी गोलीबारी में श्रमिकों, खेतिहर मज़दूरों, छात्रों सहित 10 लोगों की मौत हो गयी।

नव उदरवादी हमले और मज़दूर वर्ग का प्रतिरोध

केंद्र में नरसिम्हा राव सरकार में तत्कालीन केंद्रीय वित्त मंत्री, मनमोहन सिंह ने 1991 में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी निर्देशित आर्थिक एल.पी.जी (उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण) एजेंडा पेश किया। तब से एनडीए हो या यूपीए, केंद्र की सभी क्रमिक सरकारें कोविड-19 लॉकडाउन सहित परिवर्तित विश्व स्थिति के अनुसार आक्रामकता, विविधता और दबंगई के साथ एक ही एजेंडे पर चलती रही हैं। लेकिन, उस समय तक एकजुट ट्रेड यूनियन

आंदोलन, हड़ताल के अपने सबसे शक्तिशाली हथियार के साथ नवउदारवादी एजेंडे के कार्यान्वयन को बहुत हद तक रोकने और कुछ क्षेत्रों में इस प्रक्रिया को धीमा करने में समर्थ थे। क्षेत्रीय संघर्षों की शृंखला के अलावा, इधर मज़दूरों की 18 सामान्य हड़तालें हो चुकी हैं; लेकिन केंद्र में मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से आरएसएस से जुड़ा बीएमएस इनसे अनुपस्थित रहा है।

कोविड-19 में मज़दूर वर्ग का सामना कॉर्पोरेट समर्थक चुनौतियों से होगा

कोविड-19 के लॉकडाउन और बहुत कम समय की ऑनलाइन नोटिस के बावजूद 21 अप्रैल, 2020 के विरोध प्रदर्शन में मज़दूर वर्ग और भारी संख्या में लोगों की भागीदारी रही। लोगों के विरोध का यह रूप जिसमें बड़े स्तर पर परिवार और अन्य वर्ग शामिल हुए, एक नये अध्याय की शुरुआत करता है। इसके बाद 22 मई 2020 को हुए संयुक्त ट्रेड यूनियनों के विरोध प्रदर्शन भी उतने ही सफल हुए। कोविड-19 लॉकडाउन के दौरान लोगों को जुटाने की संभावना और स्थापना / उद्योग / राज्य में हड़ताल किस प्रकार संघर्ष के औजार के रूप में इस्तेमाल किये जा सकते हैं, सीटू इसकी जांच कर रहा है। जैसे-जैसे स्थिति बदलेगी, कोविड -19 लॉकडाउन के दौरान आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए संघर्ष के और अधिक रूप सामने आयेंगे, जो सत्ता द्वारा कॉर्पोरेट एजेंडे के पक्ष में किये जा रहे मौजूदा संरचनात्मक परिवर्तन को मापने के प्रभावी पैमाने होंगे।

मज़दूर वर्ग और आम लोगों के सामने उपस्थित वर्तमान चुनौती की गंभीरता को समझ कर अतीत के अनुभव से और वर्तमान से मुख़ातिब होकर मज़दूर आंदोलन आगे बढ़ेगा। कोई भी आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कोविड-19 के वर्तमान चरण के बाद भी, भारत के आर्थिक संरचनात्मक परिवर्तनों की दिशा आम तौर पर यथावत रहेगी; और सतर्क व एकजुट मज़दूर वर्ग इन चुनौतियों का सामना करने में सक्षम होगा तथा मज़बूत होकर निकलेगा। इतिहास इसका गवाह बनेगा।

मो0 9968119681
अनु0 नलिन विकास
मो0 9717367329

कोरोना काल : प्रवंचनाओं के संदर्भ-4

कोरोना-काल में पूंजीवाद : संकट बनाम अवसर

जवरीमल्ल पारख

12 मई 2020 को राष्ट्र के नाम संदेश देते हुए प्रधानमंत्री नरेंद्र दामोदरदास मोदी ने 20 लाख करोड़ के प्रोत्साहन पैकेज की घोषणा करते हुए कोरोना महामारी के इस भयावह दौर को अवसर में बदलने का आह्वान किया था। जब लॉकडाउन के पहले चरण की घोषणा की थी, तब उन्होंने देशवासियों को विश्वास दिलाया था कि अगले 21 दिन में कोरोना महामारी के विरुद्ध लड़ाई जीत ली जायेगी। कोरोना महामारी से ग्रसित मरीज़ों का इलाज करने वाले डॉक्टरों और नर्सों को इस लड़ाई के योद्धाओं का ख़िताब दिया गया और उनके उत्साहवर्द्धन के लिए ताली और थाली भी बजायी गयी। यह तक कहा गया कि महाभारत का युद्ध 18 दिन में जीत लिया गया था, कोरोना के विरुद्ध युद्ध को 21 दिन में जीत लिया जायेगा। लेकिन बारबार लॉकडाउन की अवधि बढ़ाने के बावजूद महामारी का प्रकोप बढ़ता चला गया और जब साफ़ हो गया कि उनके किये यह महामारी क़ाबू में नहीं आयेगी, तो उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि यह महामारी जल्दी जाने वाली नहीं है, इसलिए जनता को इसके साथ जीने की आदत डालनी होगी। आरएसएस के जिस विभाजनकारी एजेंडे को नरेंद्र मोदी अपने शासन के पहले कार्यकाल में हिचकिचाते हुए लागू कर रहे थे और दूसरे कार्यकाल के पहले साल में जिसने तेज़ रफ़्तार पकड़ ली थी, यह महामारी उसे निर्णायक नतीजों तक पहुंचाने का शुभ अवसर है, इसे समझने में उन्होंने देरी नहीं की।

उन्होंने जान लिया था कि आज़ादी के सत्तर सालों में जो भी जनता के हित में क़दम उठाये गये थे, संविधान के द्वारा भारतीय नागरिकों को जो भी लोकतांत्रिक अधिकार दिये गये थे, किसानों और मज़दूरों को शोषण और उत्पीड़न से बचाने के लिए जो नियम-क़ायदे बनाये गये थे, दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों और महिलाओं को बराबरी के स्तर पर लाने के लिए जो भी क़दम उठाये गये थे और धार्मिक अल्पसंख्यकों को संविधान के तहत बराबरी का हक़ और सुरक्षा प्रदान की गयी थी, उन सबको कुचलने और ख़त्म करने का जो अभियान पिछले छह सालों से चल रहा था, अब उसे निर्णायक बिंदु तक पहुंचाने का सही समय आ गया है। इसी अर्थ में वे 'अवसर' की बात कर रहे थे। अपने वास्तविक इरादों को छुपाने की कोशिश करने के बावजूद उनकी ज़बान पर उनके इरादे यदा-कदा आ ही जाते हैं। 'अवसर' शब्द ने भी उनके वास्तविक इरादों को नंगे रूप में सामने ला दिया है। उन्होंने उद्योगपतियों और व्यापारियों की संस्था को संबोधित करते हुए जब सख़्त फ़ैसले लेने की बात कही, तब उनका इशारा उन फ़ैसलों की तरफ़ ही था, जिसके तहत देशी-विदेशी उद्योगपतियों और निगमों को बिना किसी क़ानूनी अड़चन और जवाबदेही के अपना व्यवसाय करने की छूट हो। उनकी प्रतिद्वंद्विता में कोई भी सार्वजनिक कंपनी और निगम न हो, न कोई क़ानून और न कोई संगठन। निजी क्षेत्र को दी जाने वाली इस छूट का दुष्परिणाम भले ही जनता के बड़े हिस्से को भुखमरी, बदहाली और बेरोज़गारी के रूप में भुगतना पड़े, जैसाकि पिछले छह सालों में भुगत रही है।

आज दुनिया के दो सौ से अधिक देशों में कोरोना वायरस से संक्रमित महामारी फैल चुकी है। महामारी को फैले हुए छह माह हो चुके हैं और अभी इसके समाप्त होने या कमज़ोर पड़ने के आसार नज़र नहीं आ रहे हैं। यह

एक संक्रमित बीमारी है और एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में आसानी से फैल सकती है। इस महामारी से बचने का सबसे कारगर उपाय यही प्रतीत होता है कि दूसरे व्यक्तियों के नज़दीक संपर्क में न आया जाये। नतीजा यह हुआ कि बहुत से देशों की सरकारों ने व्यापक पैमाने पर लॉकडाउन (तालाबंदी) लागू करने का फ़ैसला लिया। लेकिन लॉकडाउन की प्रकृति सभी देशों में एक सी नहीं थी। कहीं लॉकडाउन को सख़्ती से लागू किया गया और कहीं नरमी से। कुछ ने पूरे देश में लॉकडाउन लागू किया, तो कुछ ने उन क्षेत्रों में, जो महामारी से ज़्यादा प्रभावित थे। इस लॉकडाउन ने महामारी से प्रभावित लगभग सभी देशों की अर्थव्यवस्था को कमज़ोर किया। तुलनात्मक रूप से देखने पर साफ़ हो जाता है कि भारत में लॉकडाउन की प्रकृति बहुत अधिक कठोर और सामान्य लोगों के जन-जीवन को तहस-नहस करने वाली साबित हुई।

चीन जिसकी जनसंख्या दुनिया में सर्वाधिक एक अरब 40 करोड़ है और ऐसा माना जाता है कि जहां से महामारी की शुरुआत हुई, वहां शुरू के तीन महीने में ही महामारी तेज़ी से फैली और मरीज़ों की संख्या 81 हज़ार से ऊपर पहुंच गयी और मरने वाले की संख्या भी इस अवधि में 3300 से पार जा चुकी थी, लेकिन बाद के लगभग तीन महीनों में केवल ढाई हज़ार बीमार बढ़े और मरने वालों की संख्या भी 1300 के आसपास ही बढ़ी। दूसरा उदाहरण क्यूबा का लिया जा सकता है, जिसकी जनसंख्या 1.15 करोड़ है, वहां पहला मामला 15 फ़रवरी को आया था और चार महीने में 2300 से कुछ ही ज़्यादा मरीज़ थे और मरने वालों की संख्या केवल 85 थी। इससे कुछ अलग उदाहरण वियतनाम का नहीं है, जिसकी आबादी 9.55 करोड़ है और जिसकी विस्तृत सीमा चीन से लगती है। वियतनाम में भी पहला मामला 15 फ़रवरी को आया था, वहां चार महीने में 352 मरीज़ पाये गये और कोविड-19 से वहां एक भी मौत नहीं हुई।

इसके विपरीत अगर हम अमरीका और यूरोप के विकसित पूंजीवादी देशों के उदाहरण लें, तो स्थिति ज़्यादा भयावह नज़र आती है। अमरीका जिसकी आबादी लगभग 33 करोड़ है, वहां फ़रवरी की शुरुआत से मामले सामने आने शुरू हो गये थे और कुछ ही दिनों में मामले तेज़ी से बढ़ने लगे। 24 जून तक यानी चार महीने में मरीज़ों की संख्या 24 लाख 62 हज़ार को पार कर गयी थी और इसी अवधि में मरने वालों की संख्या एक लाख 24 हज़ार को पार कर चुकी थी। इस तरह दुनिया का सबसे धनी और शक्तिशाली देश इस महामारी के मामले में भी सबसे आगे था। पश्चिमी यूरोप के देश भी अमरीका से बहुत पीछे नहीं थे। स्पेन, ब्रिटेन, इटली, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में मरीज़ों और मरने वालों की संख्या उनकी आबादी के अनुपात से बहुत ज़्यादा है। जबकि ये सभी देश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध और संसाधनों की दृष्टि से संपन्न हैं। रूस में भी महामारी का प्रकोप तेज़ी से बढ़कर मरीज़ों की संख्या छह लाख को पार कर चुकी है। ब्राज़ील जिसकी जनसंख्या 21.25 करोड़ है, वहां महामारी की शुरुआत मार्च के पहले सप्ताह से होने लगी थी और चार महीने में वहां मरीज़ों की संख्या बढ़कर 11 लाख 90 हज़ार से ज़्यादा और मरने वालों की संख्या भी 53 हज़ार से ज़्यादा हो चुकी थी।

दरअसल, यह महामारी किस देश में किस हद तक फैली है और कितने लोग मारे गये हैं, इसका सीधा संबंध सिर्फ़ इस बात से नहीं है कि वहां जन स्वास्थ्य सेवा किस हद तक इस तरह की महामारी का मुक़ाबला करने में सक्षम है, बल्कि इस बात से ज़्यादा है कि उस देश की शासन व्यवस्था किस हद तक महामारी का मुक़ाबला करने के लिए कटिबद्ध है। क्यूबा और वियतनाम का उदाहरण बताता है कि अपेक्षाकृत ग़रीब देश होने के बावजूद केवल तत्परता, संकल्प और सामूहिक सक्रियता के बल पर दोनों देश इस महामारी से अपने नागरिकों को बचाने में कामयाब रहे। इसके विपरीत अमरीका, ब्राज़ील, रूस, भारत, ब्रिटेन जैसे देश इस महामारी के गहरे शिकार बनते गये। इसमें इन देशों के शासक वर्ग के चरित्र और जनता के प्रति उनकी ज़िम्मेदारी की भावना के अभाव की अहम भूमिका है। अमरीका, ब्राज़ील, रूस, भारत जिन चार देशों में यह महामारी सबसे ज़्यादा फैल चुकी है, उनकी

सामान्य विशेषता यह है कि इन सभी देशों में आज ऐसी पार्टियां और शासक शासन कर रहे हैं जिनका लोकतंत्र में यक़ीन न्यूनतम है। अमरीका में डोनाल्ड ट्रंप, ब्राज़ील में जैर बोल्सेनारो, रूस में व्लादिमिर पुतिन और भारत में नरेंद्र मोदी की नीतियां न केवल अतिदक्षिणपंथी हैं बल्कि इनका रवैया तानाशाहीपूर्ण और जनता की क़तारों में नस्ल, जातीयता और सांप्रदायिकता के आधार पर फूट डालने का रहा है। अपने-अपने ढंग से ये सभी हिटलर के वंशज हैं। इन सभी ने महामारी की आरंभिक चेतावनियों को जानबूझकर नज़रअंदाज़ किया और बाद में महामारी के विरुद्ध ऐसे क़दम उठाये जिनसे जनता की मुश्किलें और अधिक बढ़ीं। यह भी संयोग नहीं है कि यूरोप के अधिकतर देशों में अतिदक्षिणपंथी पार्टियां शासन कर रही हैं और यही वजह है कि इन देशों को महामारी पर नियंत्रण रखने में काफ़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

अगर हम अपने देश भारत का उदाहरण लें, जहां 30 जनवरी को पहला मामला सामने आया था और जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया था कि यह महामारी उन लोगों के द्वारा भारत में प्रवेश कर रही है, जो विदेश से भारत आ रहे हैं। इसके बावजूद 22 मार्च तक जब हवाई सेवाएं पूरी तरह से बंद कर दी गयी थीं, सरकारी आंकड़ों के अनुसार 15 लाख से अधिक लोग विदेशों से भारत आ चुके थे। भारत में कुल 22 अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे हैं। इन पर विदेश से आने वाले यात्रियों की न केवल पूरी जांच की जा सकती थी बल्कि ज़रूरत के अनुसार उन्हें क्वारंटीन भी किया जा सकता था। लेकिन मार्च के प्रथम सप्ताह तक तो विदेश से आने वाले किसी भी यात्री की किसी तरह की जांच नहीं की गयी। लॉकडाउन का पहला चरण लागू होने से महज़ दस दिन पहले हवाई अड्डों पर यात्रियों का तापमान लिया जाने लगा और उसके बाद उनको अपने गंतव्य की ओर जाने दिया गया। उन्हें परामर्श दिया गया कि वे 14 दिन क्वांरटीन में रहें, जिसे किसी ने गंभीरता से लेना ज़रूरी नहीं समझा। इस तरह इन विदेश से आने वाले लोगों को जानबूझकर शेष जनता के बीच जाने और उनके बीच संक्रमण फैलाने का अवसर दिया गया। कारण यह था कि फ़रवरी के अंतिम सप्ताह में अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप लाव लश्कर के साथ भारत यात्रा पर आने वाले थे और उनके वापस लौटने तक सरकार ऐसा कोई क़दम नहीं उठाना चाहती थी, जो अमरीका जैसे शक्तिशाली देश को नाराज़ करने वाला हो। ट्रंप के स्वागत में अहमदाबाद में भव्य समारोह किया गया जिसमें लाख-दो लाख से अधिक लोग शामिल हुए। ट्रंप इसके बाद आगरा भी गये और बाद में दिल्ली भी। ट्रंप के लौटने के बाद भी सरकार जनता को भुलावे में रखे रही। 13 मार्च को केंद्र सरकार द्वारा जारी एक बयान में कहा गया कि कोरोना महामारी से चिंता की बात नहीं है और इसके भारत में फैलने की कोई संभावना नहीं है। लेकिन एक सप्ताह बाद ही जब मामले बढ़ने लगे तो रेल सेवा, हवाई सेवा और यातायात के सभी छोटे-बड़े साधन बिना किसी चेतावनी के बंद कर दिये गये। 24 मार्च को रात आठ बजे प्रधानमंत्री ने राष्ट्र के नाम संदेश देते हुए चार घंटे बाद से यानी 25 मार्च को रात 12 बजे से 21 दिन के लिए लॉकडाउन लागू कर दिया। इस लॉकडाउन के लिए उन्होंने किसी तरह की तैयारी करना ज़रूरी नहीं समझा। न तो इस पर विचार करना ज़रूरी समझा कि इस अचानक थोपे गये लॉकडाउन से जनता को किस तरह की परेशानियां आ सकती हैं और न ही महामारी का इलाज और बचाव करने की कोई तैयारी करना आवश्यक समझा गया। यह मान लिया गया कि लॉकडाउन बचाव भी है और रोकथाम भी।

25 मार्च से तालाबंदी का पहला चरण आरंभ हुआ, उस समय पूरे देश में इस महामारी से संक्रमित सिर्फ़ 571 लोग थे, लेकिन तालाबंदी के हर चरण में यह संख्या लगातार बढ़ती गयी। 31 मई को जब चौथा चरण समाप्त हुआ तब देश में महामारी से संक्रमित मरीज़ों की संख्या एक लाख 90 हज़ार से ज़्यादा हो चुकी थी और मरने वालों की संख्या 5400 को पार कर गयी थी। भारत में कोविड-19 का पहला मरीज़ केरल में आया था। केरल में कुछ दिन तेज़ी से मरीज़ बढ़े लेकिन धीरे-धीरे मरीज़ों की संख्या के बढ़ने की रफ़्तार कम होती गयी और 24 जून तक केवल 3604 मरीज़ थे और मरने वालों की संख्या भी केवल 23 थी। केरल की कुल जनसंख्या लगभग 3.50 करोड़ है।

अगर केरल की तुलना हम दिल्ली से करें जो भारत की राजधानी है और जहां की आबादी 1.90 करोड़ है, लेकिन वहां 24 जून तक मरीज़ों की संख्या 70390 और मरने वालों की संख्या 2365 हो चुकी थी। इसी तरह गुजरात जिसके मॉडल का उदाहरण बार बार दिया जाता है और जिसकी कुल आबादी 6.27 करोड़ है, वहां मरीज़ों की संख्या 29000 और मरने वालों की संख्या 1736 थीं। अकेले महाराष्ट्र में 24 जून तक 142900 मरीज़ थे और 6739 लोग मर चुके थे। यानी लगातार 68 दिन के लॉकडाउन और उसके बाद के 25 दिन के कुछ-कुछ खुलेपन के बावजूद केरल को छोड़कर अधिकतर बड़े राज्यों में संक्रमित मरीज़ों की संख्या में न केवल लगातार बढ़ोतरी होती गयी बल्कि मरने वालों की संख्या में भी चिंतनीय वृद्धि हुई। 25 जून तक पूरे देश में संक्रमित मरीज़ों की संख्या बढ़कर लगभग चार लाख 75 हज़ार से अधिक और मरने वालों की संख्या लगभग 15000 हो गयी है।

कोरोना वायरस एक संक्रमित बीमारी है और इससे बचने का सर्वाधिक कारगर उपाय यही था कि सबसे पहले उन लोगों की पहचान की जाये जिनमें कोरोना के लक्षण दिखायी देते हैं, फिर टेस्टिंग के द्वारा उन लोगों को अलग किया जाये जो इससे संक्रमित हो चुके हैं। इसके बाद उन्हें शेष लोगों से अलग रखकर उनका उचित उपचार किया जाये। चीन ने लगभग यही विधि अपनायी। जिस शहर वुहान में संक्रमण तेज़ी से फैला उसे चीन के दूसरे इलाक़ों से अलग-थलग किया गया। वहां जांच की तीव्र मुहिम चलायी और संक्रमित लोगों के इलाज के लिए ज़रूरी क़दम उठाये। साथ ही, दूसरे इलाक़ों में महामारी के लक्षण वाले लोगों का पता लगाकर उनकी टेस्टिंग की गयी और उनका दूसरों से अलग कर उपचार किया गया। इस तरह महामारी को पूरे देश में फैलने से रोका गया। यही काम वियतनाम और क्यूबा ने किया। कुछ भिन्न ढंग से जनता को कम से कम परेशानी में डालकर न्यूज़ीलैंड और दक्षिण कोरिया ने भी महामारी की रोकथाम के ठोस क़दम उठाये। केरल ने भी अपने पूर्व अनुभवों का लाभ उठाया। पहले केस का पता लगने के साथ ही उसने अपनी स्वास्थ्य सेवाओं को पूरे राज्य के पैमाने पर सक्रिय किया। टेस्टिंग द्वारा संक्रमित लोगों का पता लगाया गया और अगले 14 दिन तक उनकी निगरानी और उपचार किया गया। केरल ने विदेश से आने वाले प्रत्येक व्यक्ति की न केवल पूरी जांच की, बल्कि उन्हें क्वांरटीन में भी भेजा गया। जो केरल ने किया वह पूरे देश के लिए भी किया जा सकता था। यानी कि विदेश से आने वाले यात्रियों की पूरी जांच और उन्हें अनिवार्यत: क्वारंटीन किया जाता तो पूरा देश आसानी से महामारी से बच सकता था, लेकिन ऐसा नहीं किया गया। इसके विपरीत केंद्र सरकार ने पहले तो महामारी को फैलने दिया और उसके प्रति लापरवाही बरती और जब महामारी ने ख़तरनाक रूप धारण कर लिया तो भय का ऐसा माहौल पैदा किया कि उसका लाभ उठाकर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाने शुरू कर दिये। जांच और इलाज की समुचित व्यवस्था करने के बजाय लोगों में भय का संचार करके उन्हें अपने घरों में क़ैद रहने और थोपे गये प्रतिबंधों का सख़्ती से पालन करने को मजबूर किया।

लॉकडाउन के कारण सब कुछ बंद हो जाने ने ग़रीब लोगों के लिए अकल्पनीय मुसीबतें खड़ी कर दीं। वे बेरोज़गार हो गये। आय के स्रोत समाप्त हो गये और दो जून की रोटी के लाले पड़ने लगे। पहले चरण के तीन सप्ताह लोगों ने किसी तरह निकाले लेकिन जब एक बार फिर लॉकडाउन 19 दिन के लिए बढ़ा दिया गया, तो उन लोगों का धैर्य टूट गया जो रोज़गार के बिना अपने घरों से सैकड़ों-हज़ारों मील दूर रह रहे थे। इस दौरान मिलने वाली सरकारी मदद इतनी कम और इतनी अनियमित थी कि उसके भरोसे वे बिना आमदानी और बिना रोज़गार के नहीं रह सकते थे। जहां वे काम करते थे, उन मालिकों ने उनकी तरफ़ से मुंह मोड़ लिया, जिन टूटी-फूटी कोठरियों में भेड़-बकरियों की तरह रह रहे थे, उनके मालिकों ने उन घरों से निकाल बाहर किया क्योंकि उनके पास देने को किराया नहीं था। उनकी व्यथा कोई सुनने वाला नहीं था। दूर अपने गांव के अलावा उन्हें कोई आसरा नज़र नहीं आया। यातायात के साधनों के अभाव में, मजबूर होकर वे सैकड़ों मील पैदल अपने घर-गांव के लिए निकल पड़े। गोद में बच्चा, सिर पर गठरी, साथ में चलते छोटे-छोटे बच्चे, उनमें से भी कुछ के सिर पर भी बोझ, आदमी-औरतों के रैलों

के हृदय विदारक दृश्य शहरों से निकलने वाली हर सड़क पर देखे जा सकते थे। किसी को उत्तर प्रदेश पहुंचना था, किसी को बिहार, किसी को उड़ीसा, तो किसी को बंगाल। इन पैदल जाने वाले ग़रीब मेहनतकश लोगों को पूरे रास्ते पुलिस के डंडों को भी झेलना पड़ा। दुर्घटनाओं का शिकार होना पड़ा, कुछ भूख और प्यास से रास्ते में ही दम तोड़ बैठे। आठ सौ से अधिक मज़दूर अपने पर जबरन थोपे गये विस्थापन के कारण मारे गये, मार दिये गये।

25 मार्च से आरंभ हुआ लॉकडाउन लगातार बढ़ता रहा। पहले 21 दिन के लिए, दूसरी बार 19 दिन के लिए, तीसरी बार 14 दिन के लिए और चौथी बार फिर 14 दिन के लिए। यानी 25 मार्च का लॉकडाउन 31 मई तक लगातार चलता रहा और ढीले-ढाले ढंग से आज भी जारी है। इन 68 दिन में हुई तालाबंदी ने पूरे देश को निष्क्रिय कर दिया था। छोटे बड़े सभी तरह के उद्योग-धंधे बंद होने से लगभग 12 करोड़ लोगों का रोज़गार छीन लिया गया। समय पर फ़सल न बिकने से किसानों को भी भारी नुक़सान का सामना करना पड़ा। भारत की कुल श्रम शक्ति का 90 प्रतिशत से अधिक असंगठित क्षेत्र से है, जो सामान्य परिस्थितियों में भी शोषण और उत्पीड़न का शिकार होता रहा है, इस लंबे चले लॉकडाउन ने उन्हें पूरी तरह से तबाही के कगार पर ला खड़ा किया है। इन सभी को और उनके परिवारों को लॉकडाउन के पहले दिन से ही आर्थिक मदद की ज़रूरत थी, जिससे कि वे अपना और अपने परिवार का जीवनयापन आसानी से कर सकें। जहां वे रह रहे हैं, वहां से उन्हें भागना न पड़े और जब महामारी का प्रकोप ख़त्म हो, तो वे वापस रोज़गार हासिल कर सकें। लेकिन सरकार ने कुछ किलो अनाज और 500 या 1000 रुपये की मदद देकर अपने कर्त्तव्य को पूरा हुआ मान लिया। सरकारों ने यह तक पता लगाने की कोशिश नहीं की थी कि वह मदद कितने लोगों तक पहुंच रही है और क्या वह पर्याप्त है। लॉकडाउन के पहले चरण में मोदी सरकार ने 1.76 लाख करोड़ के राहत पैकेज की घोषणा की, वह शीघ्र ही नाकाफ़ी साबित हुई। लॉकडाउन के 49 वें दिन 12 मई को प्रधानमंत्री ने 20 लाख करोड़ के प्रोत्साहन पैकेज की घोषणा की, जो जीडीपी का 10 प्रतिशत बताया गया। प्रधानमंत्री ने दावा किया कि इस आर्थिक पैकेज से देश की अर्थव्यवस्था न केवल पटरी पर आ जायेगी वरन देश को आत्मनिर्भर बनाने में भी मदद मिलेगी। प्रधानमंत्री ने देशवासियों का आह्वान किया कि वे महामारी को संकट की तरह नहीं बल्कि अवसर की तरह देखें।

इसी लॉकडाउन की अवधि में सरकार ने लगातार जनविरोधी क़दम उठाये। श्रमिकों को क़ानून से मिलने वाले संरक्षण और सुरक्षा को पूरी तरह से समाप्त करना, किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलवाने की बजाय उन्हें पूरी तरह बाज़ार के हवाले कर देना, अनिवार्य वस्तु अधिनियम से उन सभी खाद्य पदार्थों को निकाल बाहर करना जो आम हिंदुस्तानी के भोजन का अनिवार्य हिस्सा हैं और हर रोज़ पेट्रोल और डीज़ल के दाम बढ़ाना जबकि विश्व बाज़ार में क़ीमतें लगातार कम हो रही हैं, इसी दौर में उठाये गये क्रूर क़दम हैं। इसी लॉकडाउन के दौरान सरकार ने उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया है। नरेंद्र मोदी ने नोटबंदी, जीएसटी और अब तालाबंदी जैसे आत्मघाती क़दम उठाये। उनके हर क़दम ने अर्थव्यवस्था को लगातार संकट की ओर धकेला। स्वयं सरकार के आंकड़ों के अनुसार 2020 की प्रथम तिमाही में जो लॉकडाउन से पहले की अवधि है, जीडीपी की दर गिरकर 3.1 हो गयी है। यानी 2014 में सत्ता में आने के इन छह सालों में जीडीपी घटकर आधी से कम रह गयी है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अप्रैल से जून की तिमाही में जब सबकुछ बंद कर दिया गया था, विकास की दर कितनी गिरेगी और उसका नतीजा कितना भयावह होगा।

लेकिन जो कुछ हुआ है और हो रहा है, वह अचानक नहीं हुआ है और इसके लिए अकेले महामारी को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। देश की अर्थव्यवस्था पूंजीवादी हो या समाजवादी उसकी सबसे पहली ज़िम्मेदारी अपनी जनता के प्रति है। आज़ादी के बाद के लगभग चार दशकों तक सरकारें कुछ हद तक शिक्षा, स्वास्थ्य और नागरिक सेवाओं में प्रत्यक्ष निवेश करती रही हैं। लेकिन 1990 के दशक के बाद सरकार ने इन क्षेत्रों में

निवेश से हाथ खींचना और निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित करना शुरू किया। पब्लिक प्रायवेट पार्टनरशिप की नीति के तहत निजी कंपनियों के साथ साझेदारी को विकास के लिए ज़रूरी बताया गया जबकि व्यवहार में यह साझेदारी सार्वजनिक संपदा को निजी क्षेत्र की सेवा में लगाने का भ्रष्ट तरीक़ा ही साबित हुआ। वैसे भी भाजपा की सरकारों के एजेंडे में शिक्षा, स्वस्थ्य और नागरिक सेवाएं कभी नहीं रहीं। इस दौरान सरकार के प्रयासों से न नये स्कूल-कालेज खुले और न नये अस्पताल बने। भाजपा के शासन के दौरान निजी क्षेत्र ने भी इनमें दिलचस्पी नहीं दिखायी। निजी क्षेत्र में कुकुरमुत्ते की तरह पहले जो स्कूल-कालेज खुले थे और नये अस्पताल बने थे, वे ज़्यादातर ग़ैर भाजपा शासन के दौरान ही। लेकिन क्या ये निजी अस्पताल जो सस्ती सरकारी ज़मीन पर बनाये गये और जिन्हें सरकार से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मदद भी मिलती रही है, कोरोना महामारी से लड़ने में कोई भूमिका निभा पा रहे हैं?

कोरोना महामारी का मुक़ाबला करने में सरकार की नाकामयाबी का सीधा संबंध हमारी जन चिकित्सा सेवाओं की व्यापक बर्बादी से जुड़ा है। तीन दशक पहले जब आर्थिक उदारीकरण की नीतियां लागू की गयीं तब उन क्षेत्रों को भी निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया गया जिनका सीधा संबंध स्वास्थ्य, शिक्षा और नागरिक सुविधाओं से जुड़ा था। इन तीस सालों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर के विशाल प्रायवेट अस्पताल खुले जहां देश-विदेश से आकर मरीज़ अपना इलाज कराने लगे। लेकिन इसके समानांतर ही पहले से चल रहे सरकारी अस्पताल सरकारों की उपेक्षा के चलते और पर्याप्त मदद के अभाव में बर्बादी की ओर बढ़ते चले गये। हालांकि यह भी सही है कि इसके बावजूद ये सरकारी अस्पताल ही ग़रीब जनता के लिए सहारा बने हुए हैं। देश की नब्बे फ़ीसद आबादी के लिए तो निजी अस्पतालों के दरवाजे पहले से ही बंद थे क्योंकि वहां का महंगा इलाज आम आदमी की हैसियत के बाहर था। 1970-80 तक गांव-गांव में प्राथमिक चिकित्सा केंद्र खोलने की मुहिम और तहसील तथा ज़िला स्तर पर हर तरह के साधनों और उपकरणों से संपन्न सरकारी अस्पतालों का विशाल जाल, निजीकरण को प्रोत्साहित करने के कारण उपेक्षा का शिकार हो गये। आज जब इस महामारी से निपटने के लिए अस्पतालों, चिकित्सा केंद्रों, डॉक्टरों, नर्सों के साथ-साथ परीक्षण और इलाज के लिए ज़रूरी आधुनिकतम उपकरणों की बहुतायत में आवश्यकता है, तब सरकार पूरी तरह से सरकारी संसाधनों पर ही निर्भर है। निजी क्षेत्र के लिए तो यह जनधन की लूट का एक और अवसर है। चीन और दक्षिण कोरिया से मंगायी गयी टेस्टिंग किट और गुजरात के फ़र्जी वेंटिलेटर का उदाहरण यह बताने के लिए पर्याप्त है कि इस संकट के दौर में भी किस तरह निजी कंपनियां सत्ता के उच्च पदों पर बैठे लोगों के साथ मिलकर लोगों के जीवन के साथ खिलवाड़ कर रही हैं। निजी अस्पतालों के लिए भी यह महामारी कमाई का एक और बड़ा अवसर है जहां वे टेस्टिंग और उपचार के नाम पर मरीज़ों को लूट सकें। सरकारों को इस महामारी की टेस्टिंग और इलाज दोनों ही पूरी तरह नि:शुल्क उपलब्ध कराना चाहिए था। लेकिन न केवल ऐसा नहीं किया जा रहा है, बल्कि निजी अस्पताल टेस्टिंग और इलाज दोनों के लिए अनाप-शनाप लूट में लगे हैं। निजी अस्पतालों में कोविड-19 का इलाज कराना औसत मध्यवर्ग की हैसियत से भी बाहर है।

सार्वजनिक चिकित्सा क्षेत्र की उपेक्षा का परिणाम है कि इस महामारी से निपटने के लिए अस्पतालों में पर्याप्त वेंटिलेटर नहीं है, प्रयोगशालाएं नहीं हैं और क्वारंटीन के लिए आवश्यक स्वच्छ और संक्रमण मुक्त वार्ड उपलब्ध नहीं हैं। दिल्ली जैसे शहर में इलाज के लिए लोगों को दर-दर भटकना पड़ रहा है और कई मरीज़ तो समय पर इलाज न मिल पाने के कारण मर रहे हैं। यहां इस बात को रेखांकित करने की ज़रूरत है कि केरल की वामपंथी सरकार अगर महामारी का अच्छे से मुक़ाबला कर सकी, तो इसीलिए कि किसी भी अन्य राज्य की अपेक्षा वहां की जन चिकित्सा सेवाएं महामारी का मुक़ाबला करने में ज़्यादा सक्षम हैं और उन पर सरकार का पूरी तरह से नियंत्रण हैं, ताकि वे उनका बेहतरीन तरीक़े से इस्तेमाल कर सकें।

जिस बीस लाख करोड़ के राहत पैकेज की घोषणा की गयी, उसका दस प्रतिशत भी ग़रीब किसानों और

मज़दूरों को राहत पहुंचाने के लिए नहीं है और न ही जन स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार करने के लिए है। यह पैकेज दरअसल छोटे-बड़े उद्योगपतियों को क़र्ज़ देकर उन्हें इस आर्थिक दुरवस्था के दौर में मदद करने के लिए है जबकि उद्योगपतियों पर पहले से ही 10 से 15 लाख करोड़ का ऐसा क़र्ज़ है, जिसके वापस लौटने की उम्मीद बैंक छोड़ चुके हैं और उन्हें बट्टे खाते में डाल दिया गया है। इस क़र्ज़ योजना से बैंकों के लिए और मुसीबत खड़ी होने वाली है। बैंकों की बदतर स्थिति का मतलब है, बैंकों में जमा जनता के पैसे का ख़तरे में पड़ना। इस पैकेज को आत्मनिर्भर भारत बनाने वाला पैकेज कहा गया है, लेकिन इसमें विदेशी निवेश को आकृष्ट करने के लिए नियमों को और ढीला किया गया है। यहां तक कि रक्षा क्षेत्र में विदेशी निवेश को बढ़ाकर 74 फ़ीसद कर दिया गया है। लेकिन इसमें रोज़गार सृजित करने की न कोई योजना है और न ही शर्त।

दुखद यह है कि जनता के हित में क़दम उठाने के लिए किसी तरह का दबाव सरकार पर नहीं है। वह इस दौर में भी अपने विभाजनकारी एजेंडे को लागू करने में सक्रिय नज़र आ रही है। न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका सब कुछ उसकी मुट्ठी में है। संविधान के रक्षक ही संविधान के भक्षक बने हुए हैं। जनता को संगठित कर उन्हें जनांदोलनों में उतारने के लिए प्रेरित करने वाले संगठन केवल बयान जारी करने से ज़्यादा कुछ करने के लिए तैयार नहीं हैं। विपक्षी राजनीतिक पार्टियों के लिए लॉकडाउन उनकी सोची-समझी निष्क्रियता के लिए आड़ का काम कर रहा है। आज़ादी के सात दशकों में इससे भयावह स्थितियां कभी पैदा नहीं हुई थीं, लेकिन ऐसा प्रतीत ही नहीं हो रहा है कि जनता में इन स्थितियो को लेकर कोई आक्रोश या गुस्सा है, बल्कि एक तरह की लाचारी और बेचारगी ही नज़र आ रही है। सीएए और एनआरसी विरोधी शांतिपूर्ण चलने वाले जनआंदोलनों में भाग लेने वाले छात्र-छात्राओं को पुलिस इस महामारी के दौरान न केवल गिरफ़्तार करती रही है, बल्कि उन पर तरह-तरह की धाराएं लगाकर उनके लिए ज़मानत हासिल करना भी नामुमिकन किया जा रहा है। इसी तरह दिल्ली के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के दंगों में सबसे ज़्यादा जान-माल का नुक़सान झेलने वाला मुस्लिम समुदाय ही पुलिस के अत्याचारों का शिकार बन रहा है। इस महामारी के लिए भी कभी चीन को, कभी तबलीग़ी जमात को और कभी अपने घर-गांव की ओर लौटने को विवश कर दिये गये ग़रीब मज़दूरों को ज़िम्मेदार ठहराया जा रहा है।

आज भी रोज़ाना दलित, आदिवासी, मुसलमान पुलिस के हाथों मारे-पीटे जाते हैं, उन्हें अपमानित किया जाता है और कई बार तो पुलिस के हाथों मारपीट से उन्हें अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता है। लेकिन कोई उनके पक्ष में सड़कों पर उतरने के लिए तैयार नहीं है। अमरीका के अफ्रीकी मूल के नागरिक जॉर्ज फ़्लायड के एक गोरे पुलिस अधिकारी के हाथों मारे जाने पर पूरी दुनिया में प्रदर्शन हुए, मगर भारत में, केरल में हाथी की हत्या पर आंसू बहाने वाले भारत के शिक्षित मध्यवर्ग का बड़ा हिस्सा कभी भूल से भी, दलितों और मुसलमानों के उत्पीड़न पर अपना मुंह नहीं खोलता। वैसे भी हिंदुस्तान का मध्यवर्ग ख़ासतौर पर सवर्ण शिक्षित मध्यवर्ग ग़रीब और मेहनतकश वर्ग को अपने से अलग और 'निम्न' मानता रहा है। वह उस पर कभी-कभार दया तो कर सकता है, लेकिन उन्हें अपने बराबर कभी नहीं मानता। बिना बराबर माने न तो उनके लिए और न उनके साथ कोई आंदोलन किया जा सकता है। यही मध्यवर्ग शासन तंत्र के हर हिस्से में मौजूद है और वही इस तंत्र को चलाता है। वही राजनीतिक पार्टियों की शक्ति बनता है, शासकों की भक्ति भी करता है। 1970 के दौर में मध्यवर्ग का एक हिस्सा जनता के जन आंदोलनों के साथ खड़ा था, लेकिन आज ऐसा नहीं है। जबकि सरकार की आर्थिक नीतियों का नकारात्मक असर मध्यवर्ग पर भी दिखायी देने लगा है। सरकारी क्षेत्र में काम करने वाले कर्मचारियों का महंगाई भत्ता रोका जा रहा है, उसकी सालाना बढ़ोतरी स्थगित की जा रही है, उनकी बचत पर ब्याज दर कम की जा रही है। ख़ाली पदों को भरा नहीं जा रहा है। निजी क्षेत्र की तो और भी बुरी हालत है, जहां वेतन में कटौती और बड़े पैमाने पर छंटनी का सामना मध्यवर्ग को करना पड़ रहा है। छोटा-मोटा व्यवसाय करने वाले ज़्यादातर लोगों का व्यवसाय पूरी तरह ठप हो चुका

है। आय के स्रोत अवरुद्ध हो चुके हैं और भविष्य के लिए अनिश्चितता हद से ज़्यादा बढ़ गयी है। लगातार घर में बंद रहने के कारण कई तरह की पारिवारिक और मानसिक परेशानियां बढ़ गयी हैं। मध्यवर्ग के युवा लोगों में अवसाद बढ़ता जा रहा है और इसके दुष्परिणाम निकल रहे हैं। पूंजीवादी लोकतंत्र में ही अपने लिए बेहतर अवसर की संभावना और उज्ज्वल भविष्य का सपना देखने वाले मध्यवर्ग को आगे आने वाले दिनों में और भी भयावह स्थितियों का सामना करना पड़ सकता है।

पूंजीवादी व्यवस्था में लोकतंत्र को जनता भले ही उसकी बुनियाद मानती हो, लेकिन स्वयं पूंजीपति वर्ग के लिए वह कई परतों वाले मुखौटे से अधिक कुछ नहीं है। अपने वर्गीय वर्चस्व को बनाये रखने के लिए जिस तंत्र को विकसित किया गया है उसका मक़सद एक ओर इस वर्चस्व को बनाये रखना होता है, तो दूसरी ओर, जनता को इस भुलावे में रखना भी होता है कि राजसत्ता पर वास्तविक अधिकार उनका ही है। वे वोट द्वारा सत्ताओं को जब चाहें बदल सकते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था का पूरा तंत्र पूंजीवाद की रक्षा और सेवा के लिए है। जब-जब पूंजीवाद अपने को संकट में पाता है, वह लोकतंत्र के इस मुखौटे की परतों को हटाने लगता है। वह जनता के अधिकारों को छीनने लगता है और उन पर तानाशाही थोपने लगता है। इस महामारी ने उसे यह अवसर भी दिया है कि वह इस पर नज़र के नाम पर लोगों की हर तरह की गतिविधियों पर नज़र रखे और जब चाहे तब किसी को भी जेल की सलाखों के पीछे पहुंचा दे। जिस वोट को लोकतंत्र की शक्ति माना जाता है, उसे जाति, धर्म, नस्ल, राष्ट्र आदि के नाम पर गुमराह करते हुए अपने पक्ष में वोट डालने के लिए लोगों को आसानी से प्रेरित किया जा सकता है और उसके बाद अगले पांच साल के लिए उनके पास हाथ मलने के कोई विकल्प नहीं बचता। जाति, धर्म, नस्ल, राष्ट्र की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर अपने सामूहिक हितों के आधार पर संगठित होकर संघर्ष करने की बात जनता के दिमाग़ में न आये, उसके लिए हर तरह के प्रपंच किये जाते हैं। यह महज़ संयोग नहीं है कि महामारी के इस गंभीर संकट के दौर में भारत का अपने पड़ोसी देशों चीन और नेपाल से गंभीर सीमा विवाद चल रहा है और चीन से तो हिंसक झड़पें भी हुई हैं। ये झड़पें कभी भी छोटे-मोटे युद्ध का रूप ले सकती हैं। पाकिस्तान से संघर्ष तो इन छह सालों में स्थायी चीज़ बन चुका है। यह नहीं भूलना चाहिए कि पुलवामा में हुए आतंकवादी हमले ने 2019 की जीत में अहम भूमिका निभायी थी।

पारिवारिक ढांचा, मीडिया, शिक्षा, धर्म, परिवार सहित सभी सामाजिक संस्थाएं हर क्षण और हर घड़ी इसी प्रयत्न में लगी हैं कि लोगों में सामूहिक वर्गचेतना का हल्का सा आभास तक पैदा न हो। यही वजह है कि पूंजीवादी व्यवस्था बारबार हर तरह के संकट से गुज़रते हुए भी अपने लिए ऐसी कोई चुनौती पैदा नहीं होने देती, जो उसके वजूद के लिए ख़तरनाक साबित हो। एक चुनाव से दूसरे चुनाव के बीच जनता की क़तारों में फूट डालने, उन्हें आपस में लड़ाने-भिड़ाने और इसका फ़ायदा उठाते हुए, उनको लूटते-खसोटते हुए अपनी सत्ता को मज़बूत करती जाती है। जब वह अपने वर्चस्व को ख़तरे में देखती है, तो वह राष्ट्रवादी युद्धोन्माद और फ़ासीवाद की ओर क़दम बढ़ाने से भी नहीं हिचकिचाती।

मध्यवर्ग का वह छोटा-सा हिस्सा जो इस व्यवस्था को बनाये रखने में लगा हुआ है और बदले में जिसे सत्ता में भागीदारी करने का अवसर मिल रहा है, उसका अपना हित इस व्यवस्था के बने रहने में है और इसके लिए वह पूंजीवाद के हाथ का हथियार बनने के लिए भी न केवल तैयार रहता है बल्कि इसमें गर्व भी महसूस करता है। लेकिन जनता का बड़ा हिस्सा अपनी भयावह दुर्दशा के लिए या तो अपने भाग्य को कोसता है, या वह इस दुष्प्रचार का शिकार हो जाता है कि इस भयावह महामारी के आगे तो सरकारें भी विवश हैं, उन्हें दोष देना व्यर्थ है या अपने उन पड़ोसी देशों को जिन्हें शत्रु मानने की शिक्षा उसे राष्ट्रवाद के नाम पर दी जाती रही है या अपने ही देश के उन पड़ोसियों को जिनकी जाति, धर्म, रंग,नस्ल और जातीयता उससे अलग है और जिनके प्रति नफ़रत उसके खून में

घोल दी गयी है, ज़िम्मेदार ठहराता है।

इस महामारी ने पूंजीवाद के लिए संकट भी पैदा किया है और अवसर भी पैदा किया है। संकट इसलिए कि इसने पूंजीवादी व्यवस्था के असली जनविरोधी चरित्र को पूरी तरह से उघाड़कर सामने रख दिया है। इसने बता दिया है कि ऐसे कष्टों से बचाने के लिए जनता के पक्ष में साहसपूर्ण फ़ैसले लेने की उसमें इच्छाशक्ति का अभाव होता है। जिस मुक्त अर्थव्यवस्था को विकल्पहीन बताया जाता है, उसे जनता के हितों की ओर मोड़ना लगभग असंभव होता है।

पूंजीवाद कोरोना महामारी से ज़्यादा भयावह और जानलेवा महामारी है जिसका इतिहास लोभ, लालच, नफ़रत और घृणा से भरा है। सामंतवाद और पूंजीवाद से लड़ते हुए मनुष्य की प्रगतिशील चेतना ने जहां एक ओर स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के महान आदर्शों को जन्म दिया था और हर तरह के शोषण और उत्पीड़न से मुक्त दुनिया बनाने का सपना भी दिया था, उसी दौर में पूंजीवाद ने नस्लवाद, फ़ासीवाद और उपनिवेशवाद के दु:स्वप्न भी दिये और जिनके कारण देशों और समुदायों को ग़ुलाम बनाने, अमरीका से लेकर आस्ट्रेलिया तक भयावह जातीय और नस्लीय नरसंहारों को अंजाम देने, दुनिया को बारबार युद्धों में झोंकने और विकास के नाम पर प्रकृति का अंधाधुंध दोहन करने के मानवता विरोधी अपराध भी किये। कोरोना महामारी भी इसी पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा प्रकृति के विरुद्ध किये गये आपराधिक कारनामों का परिणाम है। दरअसल, यह बीमारी नहीं बल्कि पहले से जड़ जमाये हुए एक महामारी का लक्षण है।

मो0 9810606751

कोरोना काल : प्रवंचनाओं के संदर्भ-5

महामारी की बढ़ती मार और आत्मनिर्भरता का फ़ासीवादी महा झूठ

राजेंद्र शर्मा

क्या इसे महज़ एक संयोग माना जा सकता है? देशव्यापी लॉकडाउन के 79वें दिन (जिसमें ओपनिंग अप के 11 दिन भी शामिल हैं), केंद्र सरकार के कैबिनेट सचिव, पांच सबसे ज़्यादा कोविड-19 प्रभावित राज्यों में मौजूदा रुझान के हिसाब से, जून से अगस्त के बीच, आइसीयू बैड, वैंटीलेटर आदि, गंभीर रूप से संक्रमितों की जान बचाने के लिए ज़रूरी सुविधाओं की, भारी कमी पैदा होने की डरावनी चेतावनी दे रहे थे। वे यह भी याद दिला रहे थे कि पहले ही देश के पूरे 69 ज़िलों में केस फ़ेटलिटी रेट यानी पॉज़िटिव पाये गये केसों में से जान गंवाने वालों की संख्या, अपेक्षाकृत ऊंची बनी हुई है। याद रहे कि उक्त पांच राज्यों में महाराष्ट्र, तमिलनाडु, दिल्ली, गुजरात तथा उत्तर प्रदेश शामिल हैं यानी यहां देश की आबादी का लगभग 40 फ़ीसद हिस्सा रहता है। दूसरे शब्दों में लॉकडाउन के लगभग अस्सी दिन बाद भी, कम से कम 40 फ़ीसद आबादी के मामले में, कोविड-19 की तबाही तथा ख़ासतौर पर मौतों से बचाने के लिए जो कुछ किया जाना ज़रूरी था और किया जा सकता था, नहीं किया जा सका था। किसी भी तरह से देखें, इसे महामारी का मुक़ाबला करने के शासन के प्रयासों की और उसके मुख्य हथियार के रूप में लॉकडाउन की, नाकामी क़बूल किया जाना ही कहा जायेगा।

ज़ाहिर है कि यह लॉकडाउन के ही सिलसिले में नाकामी क़बूल करने के गृहमंत्री अमित शाह के लफ़्फ़ाज़ी के उस पैंतरे से बिल्कुल अलग है, जो ओडिशा में अपनी वर्चुअल रैली में उन्होंने आज़माया था। शाह ने तो लफ़्फ़ाज़ी के दांव के तौर पर यह कहने की झूठी विनम्रता का प्रदर्शन किया था कि 'हमसे कुछ ग़लती हो गयी होगी', 'हमारी कोई कमी रही होगी' आदि। और इसे उन्होंने हाथ के हाथ यह कहकर विपक्ष पर हमला करने के हथियार में भी बदल डाला था कि 'लेकिन विपक्ष ने क्या किया है?' कैबिनेट सचिव तो सीधे-सीधे महामारी के सिर पर आ गये ख़तरे के बारे में चेता रहे थे, जोकि देश में कोविड के पॉज़िटिव केसों की और मौतों की भी, बड़ी तेज़ी से बढ़ती संख्या से पैदा हो रही चिंताओं के प्रति सरकार के कम से कम बाख़बर होने का भरोसा दिलाने की कोशिश का भी हिस्सा था। लेकिन, ठीक उसी समय प्रधानमंत्री मोदी, इंडियन चैंबर्स ऑफ़ कामर्स के 95वें वार्षिक सत्र को संबोधित करते हुए, देश के उद्यमियों से अवसर को पहचान कर नयी बुलंदियों की ओर जाने का और भारत को आत्मनिर्भर बनाने का आह्वान कर रहे थे। क्या यह कोविड के प्रसंग में आमतौर पर अपनी सरकार की और ख़ासतौर पर लॉकडाउन की देश के लिए बहुत ही महंगी पड़ी अपनी रणनीति की विफलता के सामने, प्रधानमंत्री के अचानक विषय-परिवर्तन करने के उस पैंतरे का ही मामला नहीं है, जिसका इस्तेमाल टीवी बहसों में हमें आये दिन देखने को मिलता है?

प्रसंगवश याद दिला दें कि इससे हफ़्ता-दस दिन पहले, प्रतिस्पर्धी उद्योग संगठन, फ़िक्की के ऐसे ही अधिवेशन को डिज़िटल माध्यम से ही संबोधित करते हुए, प्रधानमंत्री ठीक यही आह्वान कर चुके थे। प्रसंगवश जोड़ दें कि इससे पहले किसी प्रधानमंत्री ने उद्योग संगठनों के ऐसे सालाना सम्मेलनों को संबोधित करने की ज़रूरत नहीं समझी थी। यह तथ्य बेशक, इस महामारी के बीच भी प्रधानमंत्री को, उद्योगपतियों की ही सबसे ज़्यादा फ़िक्र होने

को दिखाता है। फिर भी, यह महत्वपूर्ण है कि प्रधानमंत्री बड़ी तत्परता से विषय-परिवर्तन के अपने खेल के लिए उद्योगपतियों के मंच का उपयोग कर रहे हैं। बेशक, विषय-परिवर्तन के इस खेल की शुरूआत इससे पहले ही हो चुकी थी। वास्तव में, लॉकडाउन-4 की पूर्व-संध्या में, प्रधानमंत्री मोदी ने अपने संबोधन में, लॉकडाउन में आगे-आगे ढील दिये जाने का ऐलान करने के साथ 20 लाख करोड़ रु0 के कथित पैकेज का जब ऐलान किया था, तभी विषय-परिवर्तन के लिए आत्मनिर्भर भारत का नया नारा उछाल दिया गया था। वैसे आरएसएस स्कूल में संदर्भ से काटकर जब-तब उछाले जाते रहे इस नारे का, मोदी जी के नारों में इससे भी कुछ पहले प्रवेश हो चुका था। 'महाभारत के युद्ध के 18 दिन के बजाय, लॉकडाउन को 21 दिन देने के बाद भी, जब मोदी जी को कोविड-19 वायरस पर जीत नहीं मिल सकी और प्रधानमंत्री को लॉकडाउन-2 की घोषणा करनी पड़ी, उसके बाद ही पंचायत प्रतिनिधियों के साथ अपने वीडियो कान्फ्रेंसिंग- संवाद में प्रधानमंत्री ने, संभवत: आज़माइश के तौर पर, आत्मनिर्भरता से ही महामारी की चुनौती का सामना करने का विचार रखा था। लेकिन, ग्रामीण संदर्भ में आत्मनिर्भरता की अलग से चर्चा का कोई ख़ास अर्थ ही नहीं होने के चलते, उस समय इस नारे पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया। लेकिन, लॉकडाउन के क़रीब साढ़े सात हफ़्ते बाद, 20 लाख करोड़ रु0 का कथित पैकेज तो पेश ही किया गया था, 'आत्मनिर्भर भारत पैकेज' की मोहर लगाकर।

बेशक, हम यह भी दर्ज करना चाहेंगे कि अपनी सारी ताक़त तथा सारे संसाधनों के बावजूद, मोदी सरकार के लिए यह विषय-परिवर्तन इतना आसान भी साबित नहीं हो रहा है। इतने बड़े पैमाने पर ज़िंदगियां शब्दश: दांव पर जो लगी हुई हैं। अचरज की बात नहीं है कि कैबिनेट सचिव के ख़तरे की घंटी बजाने के बाद, आख़िरकार सुप्रीम कोर्ट की भी नींद टूटी और उसने ख़ासतौर पर उन्हीं पांच राज्यों में सरकारी अस्पतालों की दयनीय स्थिति का स्वत:संज्ञान लेते हुए, ख़ासतौर पर राज्य सरकारों से कड़े प्रश्न ही नहीं किये, उनसे पांच दिन में ही जवाब देने को भी कहा। सुप्रीम कोर्ट की इस नयी-नयी सक्रियता ने विषय-परिवर्तन की मुश्किलें कम से कम कुछ तो बढ़ा ही दीं। इसके बाद, मोदी सरकार को शीर्ष स्तर पर, कोविड के मामले पर समीक्षा बैठक कर बढ़ती चुनौतियों का जायज़ा ही नहीं लेना पड़ा, इस जायज़े के आधार पर गृहमंत्री की अगुआई में संबंधित राज्यों की सरकारों से बात करने तथा ज़रूरी उपाय कराने के लिए केंद्र की ओर से सक्रियता दिखाये जाने का फ़ैसला भी लिया गया। बहरहाल, बात सिर्फ़ इतनी नहीं है कि प्रधानमंत्री ने मौजूदा गंभीर हालात में भी कोविड के ख़िलाफ़ लड़ाई की कमान अपने विश्वस्त सहयोगी को सौंप दी है। इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण यह कि इन हालात में भी केंद्र सरकार, राज्यों को क़दम उठाने के लिए तिकतिकाने से ज़्यादा अपनी कोई भूमिका नहीं देख रही है। ऐसे मुश्किल वक़्त में भी, केंद्र के राज्यों को बड़े पैमाने पर कोई ठोस सहायता देने के, अब तक भी कोई संकेत नहीं हैं, जिसके बिना बैठकों में केंद्र की सारी सक्रियता, रस्मअदायगी का ही मामला रह जाती है। इस तरह, महामारी के तेज़ी से बिगड़ते और वास्तव में बेक़ाबू होते जा रहे हालात के बीच भी बल्कि ऐसे हालात की वजह से भी, विषय-परिवर्तन का खेल ज़ोरों से जारी है।

लॉकडाउन से बल्कि कोविड-19 की चुनौती से ही विषय परिवर्तन के लिए आत्मनिर्भरता के नारे का सहारा लिये जाने के अनेक गहरे निहितार्थ हैं, जिनमें से हरेक स्वतंत्र रूप से विस्तृत चर्चा की मांग करता है। यहां तो हम इतना ही ध्यान दिलायेंगे कि यह मोदी सरकार के अपनी विफलता की ओर से ध्यान बंटाने के लिए, कोई और नारा लगाने का दांव आज़माने भर का मामला नहीं है। यह अपनी विफलता की ओर से ध्यान हटाने के लिए, एक ऐसा नारा उछालने का भी मामला है, मोदी सरकार का वास्तविक अमल जिससे ठीक उल्टा रहा है और आगे भी रहने जा रहा है। अचरज की बात नहीं है कि इसके साक्ष्य भी ख़ुद कथित 20 लाख करोड़ के पैकेज में ही दे दिये गये थे, जिसमें आत्मनिर्भरता का जाप करते-करते, प्रतिरक्षा उत्पादन जैसे न सिर्फ़ आत्मनिर्भरता के लिए बल्कि देश की संप्रभुता के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र के दरवाज़े, सौ फ़ीसद विदेशी मिल्कियत के लिए खोल दिये गये। ऐसे ही

कोयला व अन्य खनिजों व खनन के क्षेत्र के दरवाज़े, विदेशी मिल्कियत के लिए चौपट खोलने का ऐलान कर दिया गया, फिर दूसरे अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों की तो बात ही क्या करना।

लेकिन, शायद सबसे महत्वपूर्ण यह है और यह भी इसी पैकेज के गठन से स्पष्ट था कि इस तरह से विषय परिवर्तन की ज़रूरत, इसलिए नहीं थी कि मोदी सरकार की मुख्यत: लॉकडाउन पर निर्भर कोशिशें, महामारी पर अंकुश लगाने में विफल रही थीं। इस विषय परिवर्तन की ज़रूरत इसलिए भी थी कि लॉकडाउन की विफलता के बाद, इस सरकार के पास महामारी का मुक़ाबला करने के लिए, करने को कुछ रह नहीं गया था। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि जो कुछ करने की ज़रूरत थी, वह करना सरकार को मंज़ूर नहीं था। जैसा हमने पहले कहा, जो करने की ज़रूरत थी वह करना मंज़ूर न होने के साक्ष्य, ख़ुद 20 लाख करोड़ के कथित पैकेज पर छपे हुए हैं।

इसीलिए, इस पैकेज में लॉकडाउन की घोषणा के फ़ौरन बाद, मोदी सरकार द्वारा घोषित 1.76 लाख करोड़ के पहले पैकेज के ऊपर से, केंद्र सरकार की ओर से ख़र्च का शायद ही कोई ऐलान किया गया था। विभिन्न आकलनों के अनुसार, इन पैकेजों में नये ख़र्च के प्रस्ताव कुल-मिलाकर एक लाख करोड़ रु0 के क़रीब ही बैठेंगे और किसी भी तरह से देश के जीडीपी के 1 फ़ीसद से ज़्यादा नहीं हैं। यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि महाभारत के युद्ध के सारे रूपक बांधने के बावजूद, आख़िर महामारी के ख़िलाफ़ युद्ध में ख़र्च करने में इतनी कंजूसी किसलिए? ज़ाहिर है कि इसकी वजह यह तो हो नहीं सकती कि इस युद्ध के लिए संसाधनों की ज़रूरत सरकार को दिखायी ही नहीं दे रही हो। अचानक थोपे गये लॉकडाउन के बाद, करोड़ों मेहनत-मज़दूरी करने वालों के लिए खाने के लाले पड़ जाने से लेकर, दसियों लाख प्रवासी मज़दूरों के जान बचाने के आख़िरी उपाय के तौर पर, अपने गांव-घर लौटने के लिए पैदल ही सैकड़ों किलोमीटर के सफ़र पर निकल पड़ने तक, हर मामले में यह तो हो ही नहीं सकता है कि सरकार को, अपने लॉकडाउन में योजना व तैयारी के अलावा, संसाधनों की कमी दिखायी ही नहीं दे रही हो। इसी तरह, महामारी के ख़िलाफ़ अग्रिम मोर्चे पर लड़ रहे राज्यों की संसाधनों की मांग उसे सुनायी नहीं दे रही हो, यह भी संभव नहीं है।

और यह भी संभव नहीं है कि शुरू से सारे स्वास्थ्य/ महामारी के जानकारों द्वारा दी जा रही यह चेतावनी सरकार को सुनायी ही नहीं दी हो कि लॉकडाउन की अवधि का, उधार के समय की तरह तत्परता से उपयोग कर, असाधारण रूप से बड़े पैमाने पर सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को खड़ा किया जाये, नहीं तो महामारी के बोझ तले पूरी स्वास्थ्य व्यवस्था बैठ जायेगी और देश को इसकी बहुत भारी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। इस सब के बावजूद, मोदी सरकार को न तो संकट के मारे शहरी व ग्रामीण ग़रीबों की मदद के लिए कुछ ख़ास करना मंज़ूर हुआ, जिन्हें अचानक घोषित लाकडॉउन ने सिर्फ़ काम/आय से ही नहीं, दो वक़्त की रोटी तथा सिर पर छत तक से वंचित कर दिया था। और न उसे इस लड़ाई में अगले मोर्चे पर लड़ रहे राज्यों की मदद के लिए कुछ करना मंज़ूर हुआ। और उसे सार्वजनिक स्वास्थ्य ढांचे का विस्तार करने के लिए कुछ ख़ास करना भी मंज़ूर नहीं हुआ। मीडिया पर मोदी सरकार के सारे शिकंजे के बावजूद, शहरी व ग्रामीण ग़रीबों और ख़ासतौर पर प्रवासी मज़दूरों की दुर्दशा की अनगिनत दिल हिला देने वाली कहानियां, इस विफलता का जीता जागता सबूत हैं। और रही स्वास्थ्य व्यवस्था की स्थिति तो उसका जीता-जागता सबूत देश के कैबिनेट सचिव का ख़ुद इसकी चेतावनी देना है कि ऐसे ही हाल रहे तो देश की चालीस फ़ीसद आबादी, कोविड-19 वायरस के ही रहमो-करम के भरोसे होगी। और जैसा हमने शुरू में ही ध्यान दिलाया, जिस समय कैबिनेट सचिव जब उक्त गंभीर चेतावनी दे रहा था, उसी समय देश का प्रधानमंत्री आत्मनिर्भरता का जाप कर रहा था। यानी इस सामने खड़े दिखायी देते ख़तरे से बचाने के लिए, मोदी सरकार से कुछ भी करने की उम्मीद कोई नहीं करे!

यह सब इसलिए कि आत्मनिर्भरता का जाप सबसे बढ़कर इसी सचाई पर पर्दा डालने के लिए है कि यह

देश की अब तक की सबसे परनिर्भर सरकार है। इस परनिर्भरता के अनेक पहलू हैं। इनमें से एक चौंकाने वाला किंतु काफ़ी कम ही चर्चा में आया पहलू, जिसे हर मामले में पारदर्शिता से दूर भागने वाली मोदी सरकार ने सात पर्दों में छुपा कर रखा हुआ था, उसके दुर्भाग्य से आधिकारिक रूप से आत्मनिर्भरता का जाप शुरू होने के कुछ ही बाद में अचानक उघाड़ा हो गया। हुआ यह कि लॉकडाउन में संक्रमितों की संख्या और मौतों का भी आंकड़ा बहुत तेज़ी से बढ़ते रहने के बाद भी मोदी सरकार, जैसाकि उसका तरीक़ा ही हो गया है, यह साबित करने की कोशिशें कर रही थी कि उक्त आंकड़ों के बावजूद, लॉकडाउन का उसका फ़ैसला तो बहुत कामयाब रहा था। इसके लिए, महामारी के फैलाव तथा उसके नुक़सान के अनुमान की मॉडलिंग-आधारित कसरतों के ज़रिये, यह दिखाने की कोशिशें की जा रही थीं कि लॉकडाउन में संक्रमणों और मौतों के तेज़ी से बढ़ने को मत देखो, इसका शुक्र मनाओ कि मोदी सरकार ने लॉकडाउन लगाकर भारत को इसके कई गुना ज़्यादा संक्रमण और मौतों से बचा लिया था। इस तर्क का बेढ़बपन अपनी जगह, इसे लॉकडाउन न होने की स्थिति के संभावित संक्रमणों व मौतों के एक से ज़्यादा ग्राफ़ों के सहारे, वैज्ञानिक सत्य की तरह स्थापित करने की कोशिश की जा रही थी।

बहरहाल, इन ग्राफ़ों में एक ग्राफ़ जो लॉकडॉउन की सबसे ज़बर्दस्त सफलता का बखान करता था, अपने अति-अतिरंजित लगने के चलते, जानकारों की नज़रों में ख़ासतौर पर आया। तब पता चला कि यह ग्राफ़ तो अमरीकी व्यापारिक कंसल्टेंसी फ़र्म, बोस्टन कंसल्टेंसी ग्रुप द्वारा तैयार किया गया था। इसके बाद यह सच भी सामने आने में ज़्यादा समय नहीं लगा कि बोस्टन कंसल्टेंसी ग्रुप को बाक़ायदा, कोविड के संदर्भ में ख़ासतौर पर स्वास्थ्य मंत्रालय के क़दमों के लिए परामर्श की ज़िम्मेदारी ही नहीं सौंपी गयी थी, उसे कृषि मंत्रालय में इस महामारी से संबंधित कंट्रोल रूम में ही बैठा दिया गया था। यह इसके बावजूद था कि इस फ़र्म का, जिसकी गिनती अमरीका की तीन सबसे बड़ी कंसल्टेंसी फ़र्मों में होती है, महामारी से निपटने में परामर्श देने का न तो कोई अनुभव था और न उसके पास सांख्यिकीय विश्लेषण के अलावा, इसके लिए ज़रूरी कोई विशेषज्ञता थी।

आज़ादी के बाद, पहली ही बार हुआ था कि किसी सरकार ने ऐसे मामले में किसी विदेशी कंपनी को परामर्श का ठेका देने की ज़रूरत समझी थी और अनेक स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने न सिर्फ़ इस पर हैरानी जतायी थी बल्कि इसे महामारी से निपटने के अपने देश के अनुभव तथा क्षमताओं का तिरस्कार भी बताया था। याद रहे कि भारत ने इससे पहले निकट अतीत में ही एड्स और उसके बाद सार्स जैसी वायरस-जनित महामारियों पर कामयाबी के साथ क़ाबू पाकर दिखाया था। जो स्वास्थ्य विशेषज्ञ ऐसे मामलों में व्यवहारवादी रुख़ अपनाने के पक्ष में थे, उनका भी यह कहना था कि सरकार को कम से कम यह स्पष्ट रूप से बताना चाहिए था कि उक्त अमरीकी बहुराष्ट्रीय परामर्श कंपनी, महामारी के ख़िलाफ़ लड़ाई में ऐसी कौन सी विशेषज्ञता मुहैया कराने जा रही थी, जो भारत के पास नहीं थी।

मोदी सरकार ने तो इस संबंध में किसी सवाल का जवाब नहीं दिया, बहरहाल ऐसा लगता है कि इससे सरकार की कोविड महामारी से लड़ने की रणनीति में योगदान करने के नाम पर गठित कार्यदल तथा परामर्श ग्रुपों में स्वास्थ्य वैज्ञानिकों की सरकारी कार्यनीति से असहमतियां, खुलकर सामने आ गयीं। संभवत: इसी का नतीजा था कि लॉकडाउन-4 के आख़िर में, तीन सार्वजनिक स्वास्थ्य संगठनों द्वारा बाक़ायदा एक संयुक्त पत्र लिखकर, न सिर्फ़ लॉकडाउन की सफलता पर सवाल उठाये गये बल्कि उसके वास्तव में संक्रमण के फैलने के लिहाज़ से उल्टे ही पड़े होने को रेखांकित किया गया। ये संगठन हैं: इंडियन पब्लिक हैल्थ एसोसिएशन, इंडियन एसोसिएशन ऑफ़ प्रिवेंटिव एंड सोशल मैडीसन और इंडियन एसोसिएशन ऑफ़ इपीडेमियोलॉस्टिस। संयुक्त पत्र पर हस्ताक्षर करने वालों में जैसाकि हमने पहले कहा, ख़ुद मोदी सरकार द्वारा इसी महामारी के संबंध में गठित सलाहकार परिषद के कुछ सदस्य भी शामिल हैं। पत्र में अन्य बातों के अलावा कहा गया है: 'अगर प्रवासियों को महामारी के शुरू में ही घर जाने

दिया गया होता, जब बीमारी का प्रसार कम था, तो मौजूदा हालात से बचा जा सकता था। घर लौट रहे प्रवासी अब अपने साथ संक्रमण देश के कोने-कोने तक, ज़्यादातर ऐसे ज़िलों में ग्रामीण व अर्ध-शहरी इलाक़ों में ले जा रहे हैं, जहां सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्थाएं अपेक्षाकृत कमजोर हैं। इन वैज्ञानिकों की एक बड़ी शिकायत यह भी है कि महामारी के सिलसिले में सरकार की कार्यनीति और रणनीति के फ़ैसलों में न महामारी विज्ञानियों की सुनी जा रही थी, न सार्वजनिक स्वास्थ्य विज्ञानियों या इस चुनौती से संबंधित अन्य विशेषज्ञों की।

फिर भी, मुद्दा विषय-परिवर्तन के लिए अचानक आत्मनिर्भरता का जाप करने लगी इस सरकार के अपने वास्तविक आचरण में सिर्फ़ इस या उस देश या इस या उस कंपनी पर, निर्भर होने का नहीं है। ये तो अलग-अलग अभिव्यक्तियां हैं, समग्रता में यह विदेशी पूंजी पर निर्भरता का मामला है, जिसमें उस आवारा पूंजी का बोलबाला है, जिसके पांव में चक्कर है। इस आवारा पूंजी के नाराज़ होने का डर ही है जो, जनता के लिए जीवन- मृत्यु के संकट बीच भी नरेंद्र मोदी की सरकार को, वायरस के ख़िलाफ़ युद्ध में किसी उल्लेखनीय पैमाने पर ख़र्च करने से रोकता है। इस हद तक रोकता है कि भारत को आर्थिक महाशक्ति बना देने और उसके जल्द ही 5 ट्रिलियन डालर की अर्थव्यवस्था बन जाने के रास्ते पर तेज़ी से बढ़ रहे होने की अपनी सारी शेख़ियों के बावजूद, महामारी से लड़ने के लिए यह सरकार जीडीपी का 1 फ़ीसद भी ख़र्च करने के लिए तैयार नहीं है। यहां यह जोड़ना ज़रूरी नहीं है कि कथित 20 लाख करोड़ के पैकेज को, शायद ही किसी ने गंभीरता से लिया है। और यह तब है जबकि विकसित पश्चिमी अर्थव्यवस्थाएं इसी चुनौती का सामना करने पर अपने जीडीपी का 10 से 20 फ़ीसद तक ख़र्च कर रही हैं।

सरकार को ख़र्च करना मंज़ूर क्यों नहीं है? ख़र्च करेगी, तो राजकोषीय घाटा बढ़ जायेगा। राजकोषीय घाटा बढ़ा तो, वैश्विक रेटिंग एजेंसियां भारत की रेटिंग गिरा देंगी और आवारा पूंजी उड़कर किसी और डाल पर जा बैठेगी। वित्त मंत्री हर हफ़्ता-दस दिन में इस आवारा विदेशी पूंजी को इसका भरोसा दिलाना नहीं भूलती हैं कि राजकोषीय घाटे के मामले में सरकार, एकदम लक्ष्य पर है! वास्तव में जैसाकि अनेक पूंजीवादी सिद्धांतकारों तक ने दर्ज किया है, कोविड के संकट के बीच, जो विश्व अर्थव्यवस्था के पहले ही गहराते संकट के बीच आया है और जिसने इस आर्थिक संकट को लॉकडाउन आदि के रास्ते और भी मारक बना दिया है, विकसित पूंजीवादी दुनिया किसी न किसी रूप में कल्याणकारी राज्य के उस रास्ते की ओर लौट रही है, जिसे नवउदारवाद के दशकों ने भुलवा ही दिया था। इंग्लेंड में, अमरीका में तथा अन्यत्र, इस संकट के बीच मज़दूरों के वेतन के 80 फ़ीसद तक हिस्से की भरपाई, सरकारी बजट से किया जाना, इसी की ओर एक इशारा है। ऐसा ही एक और इशारा इटली समेत कई देशों में निजी चिकित्सा संस्थानों का, कम से कम महामारी की अवधि में, सरकारों द्वारा अपने नियंत्रण में लिया जाना है।

बेशक, यह महज कल्याणकारी राज्य की ओर लौटना ही नहीं है। इन विकसित पूंजीवादी देशों में सरकारी खजाने से मज़दूरों के वेतन के बड़े हिस्से की भरपाई, न सिर्फ़ यह सुनिश्चित करती है कि इस संकट में मज़दूरों के भूखों मरने की नौबत नहीं आये बल्कि यह भी सुनिश्चित करती है कि जनता के विशाल बहुमत के हाथों में क्रय शक्ति बिल्कुल बैठ ही नहीं जाये, जैसाकि हम भारत में होता देख रहे हैं। जनता के बड़े हिस्से के हाथों में क्रय शक्ति का बचे रहना, अर्थव्यवस्था में मांग को और इसलिए, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के पहिए दोबारा चल पड़ने की संभावनाओं को, बचाये रखने के लिए भी ज़रूरी है। यानी इस दिशा में चलना ख़ुद पूंजीवादी व्यवस्था के अस्तित्व की रक्षा के लिए ज़रूरी है। लेकिन, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि इस संकट के बीच भी ऐसा होना पूंजीवादी व्यवस्था की नियति ही है। विकसित दुनिया के विपरीत, तीसरी दुनिया के देशों पर इस दिशा में न जाने के भी प्रबल दबाव हैं, जिनमें सबसे प्रमुख तो वित्तीय पूंजी का दबाव ही है। मोदी के नेतृत्व में भारत न सिर्फ़ इस बाहरी दबाव के आगे घुटने टेक रहा है बल्कि इस संकट के बीच विकसित पूंजीवादी देशों से ठीक उल्टी दिशा में चल रहा है।

लेकिन, उल्टी दिशा में ही क्यों? क्योंकि अगर इस संकट के बीच भी सरकार ख़र्च नहीं करने को तैयार

नहीं है और महामारी का मुक़ाबला करने के लिए भी सिर्फ़ लॉकडाउन जैसे क़दमों का ही सहारा लेती है, तो कोविड महामारी के आने तथा उसका मुक़ाबला करने के लिए लॉकडाउन किये जाने से पहले से गहरा रहा आर्थिक संकट, महामारी के साथ जुड़कर आगे-आगे, एक बहुत भारी चौतरफ़ा सामाजिक-आर्थिक संकट का रूप लेने जा रहा है। और मोदी राज ऐसे हरेक संकट से निपटने का और उसे अपने लिए राजनीतिक संकट का रूप लेने से रोकने का एक ही रास्ता जानता है; एक ओर जनतंत्र का दमन और दूसरी ओर सांप्रदायिक आधार पर जनता का विभाजन तथा बहुसंख्यक समुदाय का अपने गिर्द ध्रुवीकरण। अचरज नहीं कि मोदी राज ने कोविड की महामारी को अपने हाथों में शक्ति के ज़्यादा से ज़्यादा केंद्रीयकरण, जनतंत्र के नंगे दमन और खुल्लमखुल्ला सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के बहाने में ही तब्दील कर दिया है। यह सरकार महामारी की स्वास्थ्य इमर्जेंसी की ओर से तो ज़्यादा से ज़्यादा मुंह मोड़ती गयी है और उसे राजनीतिक इमर्जेंसी के बहाने में ज़्यादा से ज़्यादा तब्दील करती गयी है। चौतरफ़ा संकट की मार से जनता के बढ़ते विरोध को अपने लिए राजनीतिक संकट बनने से रोकने के लिए, वह इस राजनीतिक इमर्जेंसी का आगे-आगे और ज़्यादा सहारा लेगी।

लेकिन, सिर्फ़ बढ़ते पैमाने पर सांप्रदायिक-तानाशाही का सहारा लेना भी, चौतरफ़ा बढ़ते संकट के बीच उसे बचाने के लिए काफ़ी नहीं होगा। आत्मनिर्भरता का सरासर फ़र्ज़ी नारा, सरकार ख़ुद जिससे उल्टा आचरण ही कर रही है और आगे भी कर रही होगी, इसीलिए ज़रूरी हो जाता है। दूसरी ओर, इस तरह एक झूठे नारे का सहारा लिया जाना, इस शासन के असली चरित्र को ही उजागर करता है। जानते-बूझते हुए ऐसे झूठे नारे का सहारा लिया जाना, मिसाल के तौर पर अमरीकी बहुराष्ट्रीय कंपनी को कोविड से मुक़ाबले की कार्यनीति तय करने की ज़िम्मेदारी सौंपने के बाद भी, आत्मनिर्भरता का जाप करना, जनता और जनतंत्र के प्रति एक गहरी हिकारत का सबूत है, जो कि फ़ासीवादी प्रवृत्ति की पहचान है। और यह भरोसा बल्कि कहना चाहिए दंभ कि हम जनता से कुछ भी मनवा सकते हैं, उसे कुछ भी पाठ पढ़ा सकते हैं, प्रोपेगंडा की फ़ासीवादी रणनीति पर गहरे भरोसे को ही दिखाता है।

प्रोपेगंडा की फ़ासीवादी रणनीति में इसका विशेष महत्व है कि छोटे-छोटे झूठ नहीं, बड़ा झूठ बोला जाये, इतना बड़ा झूठ कि लोगों को विश्वास ही न हो कि यह झूठ भी हो सकता है। आम धारणा के विपरीत, यह सिद्धांत गोयबल्स के बजाय ख़ुद हिटलर ने अपनी आत्मकथा, मीन कैम्फ़ में प्रस्तुत किया है, जिसके संबंधित अंश का हिंदी रूपांतर कुछ इस प्रकार होगा: 'महा झूठ में हमेशा एक प्रकार का विश्वसनीयता का बल होता है। वजह यह कि राष्ट्र के अवाम सचेतन रूप से या स्वेच्छा से प्रभावित होने के बजाये हमेशा, अपनी भावनात्मक प्रकृति के गहनतर संस्तर से कहीं ज़्यादा आसानी से प्रभावित होते हैं और इस तरह अपने दिमाग़ की आदिम सादगी में वे छोटे झूठ के बजाय, महा झूठ के कहीं आसानी से शिकार हो जाते हैं क्योंकि वे ख़ुद अक्सर छोटी छोटी चीज़ में छोटे झूठ तो बोलते हैं, लेकिन बड़े पैमाने पर झूठ का सहारा लेने में, शर्मिंदगी महसूस करेंगे। यह कभी उनके दिमाग़ में नहीं आयेगा कि विशालकाय झूठ गढ़ें और वे इस पर विश्वास ही नहीं करेंगे कि दूसरा कोई इतना धृष्ट हो सकता है कि इतनी बेशर्मी से सत्य को विकृत कर दे। ऐसा साबित करने वाले तथ्य भले ही स्पष्ट रूप से उनके दिमाग़ के सामने लाये जायें, वे फिर भी उन पर संदेह करेंगे तथा हिचकेंगे और यह मानते रहेंगे कि कोई और कारण होगा। इसकी वजह यह है कि सरासर धृष्ट झूठ, बेनक़ाब किये जाने के बाद भी, हमेशा अपने पीछे निशान छोड़ जाता है...। वर्तमान सरकार के मुंह से आत्मनिर्भरता ऐसा ही बड़ा फ़ासीवादी प्रकृति का महा-झूठ है, जिसे सांप्रदायिक-राष्ट्रवाद की बैसाखी के सहारे खड़ा करने की कोशिश की जा रही है, ताकि कोविड से गहराये चौतरफ़ा संकट से, मोदी सरकार को और उसके द्वारा संरक्षित बड़ी पूंजी के मुनाफ़ों को, बचाया जा सके।

मो0 9818097260

दो कविताएं

विजय कुमार

1. आने वाले ख़तरे

हम जो अपने घरों के भीतर बैठे हैं
साबुन से बार बार अपने हाथ धोते
हम सोच नहीं सकते
कि वे क्यों अपने घरों की ओर लौटना चाहते थे
कोई क्यों अपने घर लौटता है ?
गर इसका कोई सीधा सरल जवाब होता
तो नहीं लिखी जाती दुनिया भर में कविताएं

बहुत आसान है उन्हें ग़ैर ज़िम्मेदार कह देना
एक दृश्य है उन्हें खदेड़ दिये जाने का
हिकारत, गालियां, लानत, घुड़कियां
इनके अर्थ उनके लिए बेमानी
सिर्फ़ एक बिलखना है वहां
बदहवास चेहरे
रुके हुए आंसू
अस्फुट शब्द
तमतमायी हुई मुखाकृतियां
या अगले ही पल कुछ याचनाएं
टूटे हुए वाक्य
घूंघट में आधा मुख ढंके वे स्त्रियां
वे कंधों पर चढ़े मटमैले रूखे बच्चे
उनकी आंखों में है एक अनलिखा यह वर्तमान

किसने कहा था पिछले किसी दौर में
कि

गिड़गिड़ाहट की भी एक हिंसा होती है

तालाबंदी है
वे अपनी भूख के लिए चाबियां खोजते लोग
वे शायद कल फिर कहीं और दिखायी पड़ जायें
हां,
अपनी भूख के लॉक डाउन की चाबियां खोजते

अधबनी इमारतों के बांसों, खप्पचियों
भीमकाय क्रेनों ने
उन्हें दुत्कार दिया
बोरे, तसले, फावड़े अब रहस्य हैं
गारा और ईंटों ने कहा अभी इंतज़ार करो
हाथ गाड़ियां खड़ी गलियों में उदास
बोझे अब सिर पर नहीं कहीं और
ग़ायब सब , सब ग़ायब, सब अदृश्य
ठेकेदार, मुक़ादम, आश्वासन, तारीख़ें
सारी की सारी खिड़कियां

मुट्ठी भर भात के साथ चुटकी भर नमक
और ख़त्म हो जाती है सोशल डिस्टेंसिंग

उन पर बरसती हैं लाठियां
वे लांछित तो बहुत पहले ही थे
दुत्कारे तो बहुत पहले ही गये थे
काल के एक विह्वर से निकल कर आये
और दृश्य में अचानक प्रकट हो गये ये लोग

वे सुर्खियां हैं, ख़बरों का एक नया मसाला
उन पर चीखती हुई दुर्गा का अवतार वह एंकर
जो रोज़ नये नये डिज़ाइन के परिधानों में
हैवी मेकअप में टीवी पर उतरती है
उसका चीखना, उसका भावावेश
उसकी चिंताएं
उसकी लिपिस्टिक, रूज़ और काजल जितने ही प्रोफ़ेशनल

कहीं नहीं है कोई कच्चा चिट्ठा
वे केवल एक संख्या हैं अब
कोई रहस्य नहीं कोई कंदराएं नहीं
अनबूझे दबे ढके रहस्य नहीं
केवल ज़िंदा हैं, अभी तक ज़िंदा
होनी की एक तस्वीर उजागर है जो वहां
उसे हम देख नहीं पायेंगे
उसे कोई देख नहीं पायेगा

वे पूछते हैं सामने खड़ी मृत्यु से
तुम आओगी इस तरफ़
या
हम ही पहले चले आयें तुम्हारी तरफ़ ?

2. तालाबंदी में किसी अज्ञात की खोज

(लंबी कविता)

(कोरोना महामारी में संघर्ष करते हुए तमाम अनाम योद्धाओं को समर्पित)

उतरती धूप और सिहरती हुई पत्तियों ने
कहा कुछ मद्धम मद्धम
कबूतरों की शरारती आंखों ने
और
कोयल की कुहू कुहू ने भी कहा
कि
तुम्हारी ख़ामोश मृत्यु के शोक गीत
लिखे जायेंगे इसी तरह से
तुम्हारी शोरगुल से भरी इस बेतरतीब दुनिया में

वे सांस लेते हैं बंद कमरों में
एक ख़ालीपन की ऊब में
मृत्यु के गलियारे में जमा ज़रूरतों
और अर्थहीन वस्तुओं के पैम्फ्लेट पलटते

इस उदित होते अस्त होते सूरज को देखो
भूख तुम्हें बतायेगी

कुछ आदिम सच्चाइयों के बारे में
सुनसान पड़ी सड़कों के कुछ और भी अर्थ हो सकते हैं
जो तुम्हें समझ में आयेंगे
क्रूरताओं के घूरे पर
कोई थकान उतरी पड़ी होगी
और
कुछ मर्मस्थल बचे हुए होंगे भूले बिसरे
रुई का एक फाहा उड़ता चला जायेगा
इस पूरे संसार पर

रिकॉर्ड रूम से
सेमिनारों से
वीडियो कॉन्फ्रेंसों से
परे धकेले जा सकते हैं
तुम्हारी उपलब्धियों के बखान और
गला काट स्पर्धाओं के उद्बोधन
ग़ायब हो चुके सफल मनुष्यों की खोपड़ियां
एक तरफ़ रख दी जायेंगी
उनके भीतर भरे हुए
जानकारियों के भंडारों का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा
प्रेतों की तरह से खड़े होंगे
बंद पड़े शीशे के शो रूमों में
वैक्यूम क्लीनर ,
कारों के नये मॉडल,
फ्रिज
और वातानुकूलित यंत्र
कंप्यूटर के 'की–बोर्ड' पर उंगलियां चल रही होंगी
पर स्क्रीन पर कुछ नहीं आयेगा

कोई
भोलापन कहेगा कि यक़ीन करो मुझ पर
सुंदरता अभी भी टहल रही है
अंगडाई लेते कुत्तों के झुंड में
'नो पार्किंग' बोर्डों के नीचे से
लौट रहा होगा कोई अनाम वक़्त
बाज़ारों में

बंद शॉपिंग कॉम्पलेक्सों के व्यर्थ सूचना पट्टों से
कुछ मत कहो कुछ मत कहो
उदास रोते हुए विवरण होंगे
एक लालची दुनिया की चिपचिपाहट
मुरझाये हुए गुलदस्ते, बर्गर किंग ,
ऑनलाइन पेमेंट के डेबिट कार्ड
भयभीत देहों से झर रहा होगा जिये हुए जीवन का पलस्तर
रोबदार समझी गयी हर आवाज़ में
भरी होगी अनिश्चय की कोई सड़ांध
और झुर्रियां सभ्यता की भी हो सकती हैं
इससे पहले कभी इतनी साफ़ नहीं देखी होंगी।

बुनियादें हिल रही हैं
बुनियादें हिल रही हैं
कौन? कौन?
कोई नहीं बस एक मौन।

अवरुद्ध हरकतों के पीछे जो अदृश्य है
उसे एक तेज़ चाकू की तरह से पढ़ो
कि
पहले कब दो फांक खुल गया था इस तरह से समय

- दो –

हर चेहरे पर एक मास्क
हर मास्क के पीछे एक चेहरा
छुप गये सारे हाव भाव
मुस्कुराहटें
क्रोध
और कातरता

तुमने धरती को भी तो पहना दिया था एक मास्क
छिप गये पहाड़ नदियां चरागाह और जंगल
कई सदियों तक
धूप आई और गयी
कई सूर्योदय हुए कई सूर्यास्त
पीढियां बीतती गयीं

इतिहास के पन्ने पलटते गये

तुम्हारी अवैध संतान की तरह से
तुम्हारा ही एक शत्रु कहीं पल रहा था अनाम

सत्ताधीशो, सेनाध्यक्षो, नगरपिताओ!
धनकुबेरो
अब
युद्ध की घोषणाएं करो
बिगुल बजाओ
प्रवचन, उपदेश, व्याख्यान
बालकनियों में खड़े दासों से
घंटे घड़ियाल बजवाओ
भेज दो सेनाओं को
विजय अभियान पर

पर कहां भेजोगे?
किन दिशाओं में?
आखेट स्थल कहां
युद्ध भूमियां कहां
पुलवामा कहां है
बालाकोट कहां है
सिनाई की पहाड़ियां कहां हैं
गाज़ा पट्टी कहां है
मेक्सिको की सीमा पर खड़ी
कंटीले तारों की बाड़ कहां है
कौन सी है 'लाइन ऑफ़ डिफेंस'
कौन सा है अतिक्रमण

शत्रु अदृश्य
निराकार
गति से अधिक तेज़
तिलस्म की मानिंद मायावी
सर्वव्यापी
आकार से अधिक सूक्ष्म

छह फुट की सोशल डिस्टेंसिंग
हंसती है एक बेहया हंसी
सारे भूमंडलीकरण पर

स्पर्श में छुपी है मृत्यु
स्पर्श में छिपे हैं अंत
कल किसने देखा है
एक गुड़ी मुड़ी
सिकुड़ा हुआ वर्तमान
घड़ी की रेंगती सुइयों
सरकती हुई तारीख़ों पर
भोले विश्वासों पर , यक़ीनों पर
मेटल स्क्रीन, सीट बेल्ट, बटन और कमीज़ के अस्तर पर
और
व्यापार समझौतों की दुनिया पर

यह किसका अट्टहास है?
यह क़ब्र किसके लिए खोदी गयी है
यह शव पेटिका किसके लिए बन रही है
वह जो मरेगा कल या परसों या उसके अगले दिन
वह जो दुनिया का पांच लाख पांच सौ पचपनवा संक्रामक रोगी है
पर जो अभी ज़िंदा है

तुम्हारे आंकड़ों में
छिन्न भिन्नताएं कहती हैं
लिखो हमारे नये इतिहास
तुम्हारे स्पेशल इकोनॉमिक ज़ोन उदास
कारख़ाने बिसूरते हुए
शेयर बाज़ारों से उड़ती हैं धूल
निवेश सूचियां
सीली हुई मिसाइलों की तरह
फुसफुसा कर कहा उन्होंने कल
कि कहीं कोई कूड़ेदान ख़ाली नहीं है
इस दुनिया में
पंख कटे मेघदूतों जैसे ये सारे डेवेलपमेंट प्लान

तुम्हारी मूर्खताओं के स्मारक हैं
वातानुकूलित अधिवेशन कक्षों से उठे
जो वक्ता
और जाने कब गली के गटर में गिर पड़े।
लंच पर
एक सभासद ने कहा दूसरे से सहसा मुड़कर
सभा में आप देर तक कुछ बोल रहे थे
क्या बोल रहे थे
मैं भी तो कुछ बोलना चाहता था
बहस में शरीक भी होना चाहता था
पर राष्ट्रीय संकट की घड़ी है
रात को नींद ठीक से आती नहीं है
किसी ने कहा कि दुनिया हो गयी है अनिश्चित
दूसरे ने कहा यह जीवन संध्या है
तीसरे ने कुछ और कहा
चौथे ने कुछ और
बाक़ी मुंह बाये तबलीगी जमातियों की खोज के भड़कीले क़िस्से सुन रहे थे

दुश्मनों की शिनाख़्त हुई
विपदाओं ने रचे नये मुहावरे
कुछ नये शब्द ईजाद हुए
खौलते हुए ख़ून के बारे में
कुछ क़ौमी घृणाओं और लानतों के बारे में
धमकी देता हुआ दहाड़ता था वाशिंग्टन में कोई बेचारगी में
हंस पड़ता था बेजिंग में कोई घाघ हंसी
प्रधान सेवक मांगता था राष्ट्र से माफ़ी हर रोज़ एक नयी मोहक अदा में
पर कहीं कोई शब्द नहीं था
भूख की किसी अंधेरी गुफा के बारे में
सैंकड़ो मील चल पड़े
सिर पर पोटली उठाये
सड़क पर चलते चलते हुई किसी मृत्यु के बारे में
एक ख़ामोश रुदन अभी पड़ा था अलक्षित।

-तीन-

चिंतकों ने कहा कि इस संसार के सारे संकट हैं मनुष्य निर्मित
पर हम पंगु हैं

भाषा में उनकी पहचान अब संभव नहीं
धर्म जाति कुल वंश देश भाषा समाज हैसियत
से परे अब उसकी पहचान
वह भाषा में समाता ही नहीं

कलाकारों ने कहा कि
आकार–प्रकार दिखायी नहीं देता
शत्रु है अगोचर
वह रूप में अब बंधता नहीं
वह कभी विचारों से उठता है
कभी इरादों से
कभी त्वचा की सूक्ष्म रंध्रों से

कवि ने कहा कि सारे अतीत राजनीतिक हैं
और वर्तमान भी राजनीतिक है
ऊपर आकाश में चमकता चंद्रमा भी राजनीतिक है
राजनीतिक हैं आकाश, धूप, परछाइयां, नदी, पोखर, पहाड़, हरियाली
और आदिवासी भी
ख़ामोशियों में किये गये एकालाप भी राजनीतिक हैं
हम हैं सिर्फ़ एक कच्चा माल उनके लिए
रोग, जीवाणु, औषधियां, प्रयोगशालाएं
सब राजनीतिक हैं

चिल्लाता है कोई ईरान से कोई बल्गारिया से
जो सेफ़्टी किट भेजा गया वह नक़ली है
त्वचा की भी इस तरह से एक राजनीति है
सेनिटाइज़र नहीं बचे थे अब

चिंतको, लेखको, कलाकारो, कवियो, बौद्धिको!
तुम अमर रहो
तुम्हारी जन्म शताब्दियां मनायी जाती रहें
पिछले युगों की तरह से निर्विघ्न
तुम्हारी मेज़ों पर
जीवन और मृत्यु के सवाल
जमा रहें सारे शब्दकोश पैमाने सूक्ष्मदर्शी यंत्र
ध्वनियां प्रतिध्वनियां मुहावरे तर्कों के विश्लेषण

और
कल्पनाएं भी थोड़ी बहुत

इस बीच लोग जो रोज़ थोड़ा थोड़ा ख़त्म होते जा रहे थे
थोड़े से भोजन, थोड़ी सी सांसें, थोड़ी सी नींद
और
दस बाई दस की खोलियों में आठ-दस ठुंसे हुए लोगों के उदास चेहरों के बीच से
घर की ओर लौटते नंगे पैर थे, भूख और जिल्लत की रोटी थी
घर पर छह माह की बच्चियों को छोड़ आयी कुछ नर्सें थीं
एक सफ़ाई कर्मचारी गली में झाड़ू लगता हुआ अकेला
इनके आंसू छिप छिप जाते थे सेफ़्टी मास्कों के पीछे
चैनलों पर नाच गानों के बग़ल में
सलमान ख़ान , कैटरीना कैफ़ और कपिल शर्मा के बग़ल में
रोज़ मरने वालों के आंकड़े
मेरे समय की सबसे बड़ी ख़बर थी
और मृतकों की संख्याएं
वे रोज़ पहले से ज़्यादा थीं उत्तेजक

रोज़ एक विकराल शोर शराबे में
मनाया जाता था मृत्यु का महोत्सव एक अलग तरीक़े से
रोज़ एक नयी दिलचस्पी का सामान
जुटाया जाता था कितनी मेहनत से
किसी ने कहा कि बहुत कुछ घट रहा है
और कुछ सिद्ध नहीं होता

आकाश अपराध बोध से घिरा है
'इतिहास के अंत और सभ्यताओं के संघर्ष' की घोषणा वाली वह किताब
धूल चाट रही है कहीं
और एक वायरस खोजता फिर रहा है सैमुअल हटिंग्टन की क़ब्र को
वुहान से मिलान तक
न्यूयॉर्क से ईरान तक
समय के इस अज्ञात को कहां पकड़ा जा सकता था?
कहां था उसका ठिकाना?
कौन से पते और कौन से पिन कोड पर?

एक वरिष्ठ कवि कह गया कि

-संसार की सभ्यताएं
अपने अंतिम दिन गिन रही हैं I
दूसरा वरिष्ठ कवि जाते जाते कह गया –
मुझे विश्वास है
यह पृथ्वी रहेगी
यदि और कहीं नहीं तो
मेरी हड्डियों में

मैं अपने वरिष्ठ कवियों के अस्थि कलशों को स्पर्श करना चाहता हूं
और
संसार के सारे म्यूज़ियम लॉकडाउन की घेराबंदी में हैं।

मो0 98203 70825

दो कविताएं

सुभाष राय

1. एक चिट्ठी ज्योति बेटी के नाम

ज्योति बेटी ! वे तुम्हें खोज रहे हैं
साइकिलिंग का मौक़ा देना चाहते हैं
लेकिन अभी वे तुम्हारी परीक्षा लेंगे
और पास हो जाओगी तो अपने पत्ते खोलेंगे
तुम्हारे साहस पर, तुम्हारे इरादे पर
अभी उन्हें भरोसा नहीं है

वे सारी लड़कियों को मौक़ा नहीं देते
उन्हें आम बच्चियों की चिंता नहीं है
तुम भी आम होती
पिता की निरुपायता पर रोती
और रोते -रोते मर जाती
तो उन्हें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता
उन्होंने तुम्हें फ़ोन किया
क्योंकि तुमने असहायता को ठुकरा दिया
असंभव को संभव कर दिखाया

गुरुग्राम से दरभंगा तक
बारह सौ किलोमीटर सिर्फ़ सात दिन में
घायल पिता को कैरियर पर लादे
साइकिल से
बेटी ! यह कोई साधारण बात नहीं है
यों ही इवांका मुग्ध नहीं हैं तुम पर
बात इतनी सरल नहीं है
जो तमाम लोग तुम्हारी पीठ थपथपा रहे

ये जो अपना मुकुट तुम्हारे कदमों में डाल रहे
ये तुम्हारा सम्मान नहीं करते
ये तुम्हारे इरादे से डरते हैं

तुमने देखा नहीं
जब लाखों लोग भूख -प्यास, थकान और
मौत को चुनौती देते हुए सड़कों पर निकल पड़े
तब भी वे डर गये थे
वे हर मज़बूत इरादे से
हर अबाध संकल्प से डर जाते हैं
तभी तो लोग रास्ते में मरते रहे
घायल होते रहे, ख़ुदकुशी करते रहे
और वे खामोश सब कुछ देखते रहे

उन्हें तुम्हारे नाम से तब तक कोई परेशानी नहीं
जब तक वे उसके मायने नहीं समझते
तुम्हारे पिता ने तुम्हारा नाम यों ही नहीं रखा होगा
नाम रखते हुए उन्हें अपने चारों ओर पसरे
गहरे अंधेरे का अहसास ज़रूर रहा होगा
अंधेरा नहीं होता तो वे इतनी दूर
दिल्ली में आकर रिक्शा नहीं खींचते
बेशक उन्हें उजाले की दरकार थी
इसीलिए उन्होंने तुम्हारा नाम ज्योति रखा
और तुमने उनकी उम्मीद को अर्थ दिया
तुम थीं तो मुश्किल वक़्त में पिता की
ज़िंदगी में सांसों का उजाला बचा रह गया

सावधान रहना बेटी !
जब भी कोई साहस, कोई इरादा, कोई रोशनी
दिखती है, वे डर जाते हैं
और कोई जाल बुनने लगते हैं

मुझे अच्छा नहीं लगा तुम्हारा यह कहना
कि तुम बेटी नहीं बेटा हो
बेटी बने रहना
बेटी होना कोई कमतर होना नहीं है

बेटी होकर तुमने जो कर दिखाया है
उससे बेटियों का माथा चौड़ा हुआ है
सिर्फ़ पंद्रह साल, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है
अभी हो सके तो पढ़ना, लिखना
अपने भीतर रोशनी जमा करना
अवसर मिले तो बच्चों को ऐसी कहानियां सुनाना
जो उनमें जीवन के पक्ष में खड़े रहने का
साहस पैदा कर सकें

बहुत प्रशंसाओं से भटक मत जाना
बहुत प्रस्तावों से भी गुमराह मत होना
कुछ समझ में न आये तो बुधिया को याद करना
उसने साढ़े चार साल की उम्र में मैराथन पूरा किया
पुरी से भुवनेश्वर तक की पैंसठ किलोमीटर की दूरी
महज़ सात घंटे में पूरी की
जैसे तुम्हारी हिम्मत देख वे दंग हैं
उसी तरह तब भी पगला गये थे सब के सब
फ़िल्म बनी 'बुधिया सिंह बार्न टु रन'
उसे बहला -फुसला कर ले गये वे ट्रेनिंग के लिए
हॉस्टल में डालकर भूल गये
और फिर कभी बुधिया
लौट नहीं सका मैराथन में

सुनो कोई भी दिक़्क़त आये
तो बोलना, चुप मत रह जाना।

2. तस्वीरें

तस्वीरों में जितना दिखता है
उससे ज़्यादा रह जाता है बाहर
तस्वीरें कहां बताती हैं कि कभी भी
बदल सकती है तस्वीर

शहर में छले गये लाखों लोगों का
पैदल ही चल पड़ पड़ना गांवों की ओर

तस्वीरों में दिखता है
पर कोई भी तस्वीर कहां बताती है
कि इतने सारे पांव चाहें तो एक झटके में
रौंद सकते हैं शाही तख़्त को

रात दिन चलते मज़दूरों के
चेहरों पर गहरी थकान
और रास्तों पर जगह -जगह मौत के निशान
तस्वीरों में दिखते हैं
पर कोई भी तस्वीर कहां बताती है
कि सारा दुख गुस्से में बदल जाये
तो दरक सकते हैं बड़े से बड़े क़िले

तस्वीरें अधूरी रहती हैं हमेशा
जब कैमरे बंद रहते हैं
तब भी सूरज रुकता नहीं
ज़रा सोचो ! उन तस्वीरों के बारे में
जो अब तक किसी फ्रेम में नहीं आयीं
आयेंगी, कभी तो आयेंगी
छल की छाती पर लाखों पांवों के
समवेत धमक की तस्वीर
समूची तस्वीर बदल
जाने की तस्वीर

मो0 9455081894

दो कविताएं

मुकेश कुमार

1. सफ़ूरा के लिए

तुम्हारे गर्भ में पल रहा बच्चा
सुन रहा है बाहर की आवाज़ें
अंदाज़ लगा रहा है उस दुनिया का
जिसमें रहना है उसे कल
उसे सुनायी दे रहा है सब कुछ
गालियां, नफ़रत के बोल
भेदभाव, उन्माद के डरावने स्वर
झूठ से भरे कोलाहल में
सच सुनने की कोशिश करता है वह कान लगाकर

उसे पता नहीं है कहां है
जेल की चारदीवारी के भीतर / या बाहर की खुली जेल में
जहां उतनी ही ऊंची और मज़बूत दीवारें उठा दी गयी हैं
और उतनी ही घुटन है / कि सांस लेना भी दूभर हो जाता है कई बार

उसे मिला है मां से हौसला और हिम्मत
इसलिए कई बार मुट्ठियां तानकर
नारा लगाने की कोशिश करता है वह आज़ादी का
उसकी हलचल से विचलित मां
शांत करती है उसे प्यार से सहलाते हुए
वह जानती है कि क़ातिलों को यह बर्दाश्त नहीं
वे किसी को भी मार सकते हैं
कहीं भी उतार सकते हैं अपनी घृणा की कटार।

2 आई कांट ब्रीद, आई कांट ब्रीद

गोरे हिंसक घुटनों के नीचे दबी हुई है
तनी हुई नसों वाली

मेहनती, गर्वीली, काली गर्दन
दर्द से छटपटाती / विनीत स्वर में कह रही है
आई कांट ब्रीद, आई कांट ब्रीद

किसी की छाती पर सवार है
कोई कट्टर हिंदू, बौद्ध, मुसलमान
दबाव बढ़ाता जा रहा है वह
सिकुड़ते हुए फेफड़े
हांफते हुए कह रहे हैं
मैं सांस नहीं ले पा रहा हूं
आई कांट ब्रीद, आई कांट ब्रीद

किसी दलित आदिवासी की गर्दन मरोड़ रहा है कोई
किसी स्त्री के मुंह-नाक दबा दिये हैं किसी ने
कोई बेचैन है नाउम्मीदी से
कोई घुट रहा है अंधे भविष्य की आहट से
बस बड़बड़ाये जा रहे हैं सब मन ही मन
आई कांट ब्रीद, आई कांट ब्रीद

हवाओं में भर दिया गया है
इतना ख़ौफ़, इतनी नफ़रत
कि प्रेम, भाईचारे की गंध भी नहीं बची
सोख ली है सत्ता ने सारी ऑक्सीज़न
शंकाओं से बजबजा रहा है वातावरण
सांस लेना संभव नहीं रहा
बुदबुदा रहे हैं डरे-सहमे लोग
आई कांट ब्रीद, आई कांट ब्रीद

पूरी पृथ्वी घिरी हुई है
धुएं और असह्य तपिश से
जप रही है एक ही मंत्र बार-बार
ब्रह्मांड में प्रतिध्वनि गूंज रही है लगातार
आई कांट ब्रीद, आई कांट ब्रीद

मो0 9811818858

सिर्फ़ मज़दूर नहीं मरते

कुंदन सिद्धार्थ

जिन्हें रेलगाड़ी के ऊपर सवार होना चाहिए
जब रेलगाड़ी के नीचे आ जाते हैं
तो सिर्फ़ वे नहीं मरते, पूरा देश मर जाता है

जब हम कहते हैं
कि रेल की पटरियां कोई सोने की जगह हैं
जाने-अनजाने हम उनकी हत्या में शरीक हो जाते हैं

जब गणमान्य लोगों के शोक-संदेश पढ़-सुनकर
हम संतोष कर लेते हैं कि मज़दूर ही तो हैं
किस-किस का ध्यान रखे कोई
मर गये तो क्या हो गया
तो गाहे-बगाहे हम इस बर्बरता के पक्ष में
बड़ी बेशर्मी के साथ खड़े हो जाते हैं

जब राजमार्गों पर होने वाली मृत्यु की ख़बरों से
हम आंखें मूंद लेते हैं और बदल देते हैं चैनल
देखने लगते हैं *बॉबी, दिलजले, बाग़वान*
जब सड़कों पर गठरी के साथ बच्चों को लादे
लगातार चलते मज़दूरों की तस्वीरें हम बस एक नज़र देखते हैं
और तुरत मशगूल हो जाते हैं *रामायण, महाभारत* या कुकिंग शो में
तो हम अपनी आत्मा को बंधक रख देते हैं
और भीतर की मनुष्यता का कर देते हैं सरेआम क़त्ल

जब मज़दूरों के सैकड़ों किलोमीटर पैदल चलने की ख़बरें
हम रोचक कहानियों की तरह चटकारे लेकर पढ़ते हैं
और लानत-मलामत भेजते रहते हैं उन्हें
कि सही हो रहा, इसी लायक़ हैं वे मुफ़्तख़ोर
जब सैलानियों, तीर्थयात्रियों को लग्ज़री बसों में बैठाकर

उन्हें अपने-अपने घर पहुंचाया जाता है
और मज़दूरों को धूप में तपती सड़कों पर
घिसटने के लिए छोड़ दिया जाता है
और हमारी नींद में कोई ख़लल नहीं पड़ता
हम चुप रहते हैं, तान लेते हैं लंबी चादर और सो जाते हैं
तो हम अपने घरों में बड़े सुख-चैन से बैठे हुए
कोरोना के बिना मारे मर जाते हैं

जब देश के धनाढ्य नागरिकों को विदेशों से
हवाई और समुद्री जहाज़ों से बड़े सम्मान के साथ लाया जाता है
और मुंबई, बेंगलुरु, दिल्ली से बिहार, यूपी, एमपी आनेवाले
मज़दूरों से मनमाना किराया वसूला जाता है
उन पर लाठियां बरसायी जाती हैं
जानवरों की तरह खदेड़ा जाता है उन्हें
इधर से उधर फिर उधर से इधर

तो सिर्फ़ मज़दूर नहीं मरते
मर जाती हैं
प्रेम, करुणा, परोपकार की नैतिक शिक्षाएं
ज्ञान, ध्यान, प्रवचन मर जाते हैं
मरती है पूजा, भक्ति मरती है
मर जाते हैं छप्पन कोटि देवी-देवता
वेद, पुराण, उपनिषद मर जाते हैं
बुद्धि मरती है, मरता है विवेक
कवि मरते हैं, कथाकार मरते हैं
मर जाता है पूरा का पूरा साहित्य
संस्कार मरता है
मर जाती है
सभ्यता
संस्कृति

सिर्फ़ मज़दूर नहीं मरते

मो0 7024218568

क्या तानाशाह जानते हैं

देवेश पथ सारिया

क्या तानाशाह जानते हैं
कि मुसोलिनी के
ज़हर उगलने वाले मुंह में
डाला गया था मरा हुआ चूहा
एक औरत ने सरेआम स्कर्ट उठाकर
मूत दिया था मुसोलिनी के मुंह पर
लटकाया गया था उसका मरा हुआ शरीर
'और ऊपर, और ऊपर' की चीखों के साथ
ताकि पूरा हुजूम देख सके

मुसोलनी का हश्र सुनकर ही / हिटलर ने कहा था
कि आत्महत्या के बाद जला दें उसका शरीर

तानाशाहों से पूछना चाहता हूं मैं
कैसा महसूस करते हैं वे
अपनी पत्नियों और प्रेमिकाओं को गले लगाते समय
अपने बच्चों के गाल छूते समय
मृत मां-बाप की तस्वीर के सामने खड़े हो
अपने युवा दिनों को याद करते हुए

क्या वे जानते हैं कि हरेक
उन्हीं की तरह किसी का सगा है, संबंधी है

क्या उन्हें बीमारी में होती है तकलीफ़
चींटी काटने पर होता है दर्द ...
क्या वे जानते हैं कि लोग
उनकी तंदुरुस्ती की नहीं, मौत की दुआ करते हैं

इतने सारे लोगों को कुचलते, मारते हुए
क्या वे भूल जाते हैं कि मौत महज़ परिकल्पना नहीं है
फच्च से
कट सकते हैं एक दिन वे भी
किसी भी आम मनुष्य की तरह

दिन कभी भी फिर सकते हैं / हर शहर में मिस्र की तरह
एक तहरीर स्क्वायर होने की संभावना
खदकती रहती है

मो0 8869780649 30

ईमेल: deveshpath@gmail.com

दो कविताएं

ज्योति रीता

1. राजनीति हे राम!!

तुम्हारे नहीं होने से
कहां रुकता है
सुबह का होना
शाम का डूब जाना,
भागती है ट्रेनें धड़ाधड़
चढ़ते -उतरते लोग
चाय - पीते खांसते
रुमाल से हाथ पोंछते
आगे बढ़ जाते लोग
तुम्हारे नहीं होने से कहां फ़र्क़ पड़ता है ,

सड़क पर दौड़ते बच्चे
घास चरती गायें और बकरियां
वह देखो जाता सांड़
जलती बसें
टूटते कांच
घुटते लोग
अधपकी लाशें
बिलखते बच्चे
दहाड़ती मांएं
जाने किसका रक्त मज्जा
मांस का लोथड़ा
चीखते चिल्लाते इक्का -दुक्का
अश्रु धारा बहाते परिजन

तमाशबीन तमाम लोग
कहां जान पाते हैं दर्द व पीड़ा
अपनों से अपने के बिछड़ने की ,
छह माह का बच्चा
मां के दूध से सटा सुकून में
घर में कोहराम
राजनीति हे राम !!
तुम्हारा होना
ना होना
बस तिल- सा फ़र्क़
कौन कहां समझ पाया
तुम्हारे होने ना होने का
असहनीय दर्द
अकल्पनीय पीड़ा।।

2. गांव ना लौट पाने की पीड़ा

मैं लौटना चाहता हूं घर
करना चाहता हूं छप्पर की मरम्मत
बनाना चाहता हूं द्वार पर एक मचान
भोरे - भिनसारे गाय को कुट्टी - सानी देकर
बुहारना चाहता हूं गौशाला
अपने छोटे से खेत में
लगाना चाहता हूं गरमा धान
पिता जो कल तलक कर्कश थे
आज बैठना चाहता हूं देह लगकर

पत्नी कहती है ..
मांजी से मिलने का बड़ा मन कर रहा
अब मांजी के साथ रहकर सेवा करूंगी
चूल्हा लीपूंगी
खाना पकाऊंगी
साग खोटूंगी
नून संग रोटी खा लूंगी
पर शहर कभी ना लौटूंगी

आज याद आ रहे सारे गंवार दोस्त
जामुन- बेर की डाली
आवारगी से लौटने पर
गरम - गरम रोटी थापती मां
दौड़कर पानी लाती बहन ..

पर सुना है ...
गांव के आख़िरी मुंडेर पर
बड़ा सख़्त पहरा है ...
जो लोग जाते ही गले लगाते थे
आज लाठी-डंडे लेकर खड़े रहते हैं।

मो0 8252613779

तल्ख़ मौसम

अशोक 'अंजुम'

तल्ख़ मौसम उड़ान ख़तरे में
हर तरफ़ से है जान ख़तरे में

आप बहरों में आ गये साहिब
छेड़िए मत है तान ख़तरे में

इस तरफ़ आरती को दुश्वारी
उस तरफ़ है अजान ख़तरे में

ऐसे संतों का साथ कर बैठे
ख़ुद ही डाला ईमान ख़तरे में

गांव से होके सड़क निकलेगी
पुरखों वाला मकान ख़तरे में

अब तो माज़ी की बात छोड़ो भी
आ गया वर्तमान ख़तरे में

ये ज़मीं तो बिगड़ चली मौला
है तेरा आसमान ख़तरे में

आप सच कह तो रहे हो 'अंजुम'
आ न जाये ज़ुबान ख़तरे में

मो0 9258779744

उर्दू नज़्म

बाबरी मस्जिद की शहादत

आनंद मोहन गुलज़ार देहलवी

आनंद मोहन गुलज़ार देहलवी 94 बरस की उम्र में 12 जून 2020 को गुज़र गये। उनको श्रद्धांजलि के तौर पर हम उनकी यह नज़्म यहां दे रहे हैं जो आज के माहौल में भी प्रासंगिक (حسب حال) है- सं0

1

जब भी इंसान को इंसान से कद[1] होती है
रूह-ए बद क़ौम के दाख़िल-ब-जसद[2] होती है

2

इन दिनों ख़ैर से हुक्काम के ऐवानों में
बात जो अक़्ल की होती है वो रद होती है

3

सिलसिला एक मुनज़्ज़म[3] है मुसलसल यारो
ज़ुल्म की, क़त्ल की साज़िश की भी हद होती है

4

यह भी सोचा है कभी क़त्ल के तुज्जारों[4] ने
इस से कुल क़ौम की, कुल दहर[5] में भद होती है

5

अहल-ए दौलत ने जो पाले हैं सियासी ताजिर[6]
उन के खातों में मज़ालिम[7] की भी मद होती है

6

होने वाले हैं बहुत जल्द जहन्नुम वो रसीद
जिन के अहकाम[8] पे लाशों की रसद होती है

7

क़त्ल-ओ-ग़ारत-गरी-ए क़ौम पे नाफ़िज़[9] जो हुए
उन के हाथों में जरायम की सनद होती है

8

ख़ून-ए नाहक़ पे यहां ऐश उड़ाने वालो
ऐश की आख़िरी मंज़िल भी लहद[10] होती है

1 दुश्मनी
2 शरीर में प्रवेश
3 सुव्यवस्थित
4 तिजारत करने वाले
5 सारी दुनिया
6 व्यापारी
7 ज़ुल्म
8 हुक्म
9 लागू
10 क़ब्र

9

अपना ही क़ौल है यह क़ौल-ए मुज़फ़्फ़र[11], लिख लो
ज़ुल्म सहने से भी ज़ालिम की मदद होती है

10

क्या समझते नहीं माबद[12] को गिराने वाले?
इससे तौहीन-ए मक़ाम-ए शह-ए जद[13] होती है

11

अपने अस्लाफ़ के गुलज़ार[14] की तारीख़ लिखो
इस से अख़्लाफ़[15] की अफ़्ज़ायश-ए क़द[16] होती है

11 विजयी का वचन

12 मस्जिद

13 पूर्वज (राम)

14 परखों का बाग़

15 वंशज, 16 सम्मान

بابری مسجد

آنند موہن گلزار دہلوی

1

حسب بھی لیا ان کو لیا ان سے کد ہوتی ہے
روحِ بد قوم کے داخل بہ جسد ہوتی ہے

2

اِن دنوں خیر سے حُکام کے ایوانوں میں
بات جو عقل کی ہوتی ہے وہ رَد ہوتی ہے

3

سلسلہ کیا ہے مبیّم ہے مسلسل یارو
ظلم کی قتل کی سازش کی بھی حد ہوتی ہے

4

یہ بھی سوچا ہے کبھی قتل کے محضر روں نے
اِس سے کل قوم کی، کل مُدّعا میں بھد ہوتی ہے

5

اہلِ دولب نے جو پالے ہیں سیاسی ناخُدا
اُن کے کھاتوں میں مظالم کی بھی مد ہوتی ہے

6

ہونے والے ہیں بہت جلد جہنّم وہ رسید
حسنؔ کے احکام پہ لاشوں کی رسد ہوتی ہے

7

قتل و غارتگری قوم پہ نافذ جو ہوئے
اُن کے ہاتھوں میں حرم ائمّ کی سند ہوتی ہے

8

خونِ ناحق پہ یہاں عیش اُڑانے والو
عیش کی آخری منزل بھی لحد ہوتی ہے

9

اپنا ہی قول ہے یہ قلقؔ مظفّر لکھ لو
ظلم سہنے سے بھی ظالم کی مدد ہوتی ہے

10

کیا سمجھتے نہیں معبد کو گرانے والے
اِس سے توہینِ مقامِ شجدہ ہوتی ہے

11

اپنے اسلاف کے گلزار کی تاریخ لکھو
اِس سے اَخلاف کی افزائشِ قد ہوتی ہے

फ़ैज़ान और फ़्लॉयड

एस एम शाहिद

1

घुटने से घुटा दम तेरा, धरती की तड़प बन के उठा
टूटती सांस से तूने मां को पुकारा तो हर एक मां ने सुना

2

है दर्द से भरपूर तेरे क़त्ल का मंज़र बे-शक
तेरे जैसे थे कई और भी जिन को के मिली मौत भयानक

3

क़ाबिल-ए क़त्ल जब इस मुल्क में बस दौड़ लगाना हो जाये
जब तेरा रंग ओ नसब फ़ैस्ला कुन तेरी ख़ता का हो जाये

4

थे कितने ही बे-जुर्म जो हाथौं से निगहबां के मरे
और नफ़्रत भरे ता'अस्सुब से पड़ोसी ही ने कितने मारे

5

मैं जो प्रवासी हूं तो लौटी है नज़र मेरी वहां
तोड़ती दम थी किसी बाप की इश्रत, किसी मां का जहां

6

क़ातिल को यक़ीं था के नहीं भी ऐसा के जो वीडियो लेता
बाद मरने के रखी बाज़ू में बदूक़ शहादत देता

7

ट्रेवॉन भी था मज़्लूम, मज़्लूम था अंसारी भी
मारा अख़्लाक़ को तहज़ीब मिटायी, मरे अक्बर ओ अस्लम भी

8

रिशार्ड को मारा के बेटी का जनम दिन था तो भागा वो बेचारा
बंदूक़ उठाने पे भी न मारा जिन्हें, ढाल बना रंग था गोरा

9

गोली मारो सालों को, मिली जो छूट, तुलबा पे बंदूक़ चलायी
पोलिस भी खुले आम खड़ी देखती रही, ठाकुर ने थी ढाल बनायी

10

माईकल ब्राउन, एरिक गार्नर, फ़्रेड्डी ग्रे, टामिर राइस और अहमाद
पहलू ख़ां, क़ासिम, अब्बास, जुनैद, यासीन, नईम और इरशाद

11

ऐसे कितने हैं के गिनवाऊं तो गिनवा न सकूं
आंसू नही इतने के चाहूं भी तो मैं रो न सकूं

12

जॉर्ज, गूंजी तेरी आवाज़ है दुनिया के हर एक कोने में
गहरी है दिल पे चोट, पहुंची न वतन के वो किसी कोने में

13

दम तोड़ते फ़ैज़ान ने भारत मां की करी जय जयकार
है आज उसी मां का कोई लाल जो सुन ले ये पुकार

فیضان اور فلائیڈ

شاہد

۱

گھٹنے سے گھٹا دم تیرا، دھرتی کی تڑپ بن کے اُٹھا
ٹوٹتی سانس سے تو ماں کو پکارا تو اِک ماں نے سُنا

۲

ہے درد سے بھرپور ترے قتل کا منظر بے شک
تیرے جیسے تھے کئی اور بھی جن کو کہ ملی موت بھیانک

۳

قاتل ترا قتل . اِس ملک میں بس دو ٹرلگانا ہو جائے
حسب . تیرا رنگ ونسب فیصلہ کن تیری خطا کا ہو جائے

۴

تھے کتنے ہی بے رحم جو ہاتھوں سے نگہباں کے مرے
اور نفرت بھرے تعصّب سے پڑوسی ہی نے کتنے مارے

۵

میں جو پردیسی ہوں تو لوٹی ہے نظر میری وہاں
توڑتی دم تھی کسی باپ کی عشرت کسی ماں کا جہاں

۶

کو یقیں تھا کہ نہیں کوئی بھی ایسا کہ جو وڈیو لیتا
بعد مرنے کے رکھی بازو میں بندوق شہادت دیتا

۷

ٹریوون بھی تھا مظلوم، مظلوم تھلما ری بھی
مارا اخلاق کو، تہمینہ مٹائی، مرے اکبر واسلم بھی

۸

ریشارڈ کو مارا کہ بیٹی کا جنم دِن تھا تو بھاگا وہ بیچارا
بندوق اُٹھانے پہ بھی نہ مارا جنہیں، ڈھال بنا رنگ تھا گورا

۹

گولی مارو سالوں کو، ملی جو چھوٹ، طلبا پہ بندوق چلائی
پولس بھی کھلے عام کھڑی دیکھتی رہی، ٹھاکر نے جو تھی ڈھال بنائی

۱۰

مائیکل برا ؤن، ایرک گارنر فرڈی گرے، ٹامر رائیس اور احماد
پہلو خاں، قاسم، عبّاس، جنید، یاسین، نعیم اور اِرشاد

۱۱

ایسے کتنے ہیں کہ گنواؤں تو گنوا نہ سکوں
آنسو نہیں اِتنے کہ چاہوں بھی تو میں رو نہ سکوں

۱۲

جارج گونجتی آواز ہے دنیا کے ہر اِک کونے میں
گہری ہے دل کی چوٹ، پہنچی نہ وطن کے وہ کسی کونے میں

۱۳

دم توڑتے فیضان نے بھارت ماں کی کری جئے جئے کار
ہے آج اُسی ماں کا کوئی لال جو سُن لے یہ پکار

Email : smshahed@urdushahkar.com

कोरोना काल : तबाही के मंज़र-1

कोरोना और किसान : दूबरे के लिए बस आषाढ़ ही आषाढ़

बादल सरोज

'युद्ध और महामारी लुटेरे शासकों के लिए हमेशा मुफ़द और फ़ायदेमंद होती है।'

यह सूत्रवाक्य कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में मिलता है। कौटिल्य मतलब वही चाणक्य जो आज से 2395 साल पहले, अब पाकिस्तान में रह गये, रावलपिंडी में जन्मे थे और 2303 साल पहले पाटलिपुत्र पटना में मरे थे। मगर मर कर भी वे गये कहीं नहीं हैं, पूंजीवादी दुनिया के धताकर्मों में ज़िंदा हैं। वे 12 मई को प्रधानमंत्री मोदी के मुंह से बोल रहे थे जब वे खिलखिलाये चेहरे के साथ गदगद होकर दुनिया के ज्ञात इतिहास की सबसे संक्रामक और अब तक क़ाबू में नहीं आयी कोविद-19 की महामारी को एक अवसर बता रहे थे।

देशी विदेशी कारपोरेट के 40 चोरों को कारूं के ख़ज़ाने का 'खुल जा सिमसिम' पासवर्ड बता रहे थे। कोरोना महामारी मोदी जैसों के लिए देश और जनता की जमा और अर्जित संपत्तियों को कारपोरेट भेड़ियों के महाभोज में परोसने की संभावना भर नहीं है। वह तो है ही। यह दौलत पैदा करने वालों की लूट को और निर्मम और तीखा और अमानवीय बनाने की साजिश भी है। यह सब करना है तो मूल्य जोड़ने वाले, असल में संपत्ति पैदा करने वाले मज़दूर किसानो के पैरों में बेड़ियां, हाथों में हथकड़ियां डालना ज़रूरी है - उनकी आवाज़ घोंट देने के लिए मुंह को बांधना आवश्यक हो जाता है। ठीक इसी काम में लगी है महामारी को मौक़ा मानने वाली, आज़ादी के बाद की सबसे बर्बर और असभ्य सरकार। भारत की खेती और उससे जुड़े किसान ख़ासतौर से नवउदारीकरण के पिछले तीन दशकों में, खेती को दी जाने मदद के ख़ात्मे और बाज़ार खोलकर कृषि उत्पादों को असमान प्रतियोगिता में धकेल देने आदि की जिन आफ़तों से गुज़रे हैं उसे तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है ; बद, बदतर, बदतरीन। ग्रामीण भारत के सबसे प्रामाणिक पत्रकार और एक्टिविस्ट पी साईंनाथ के शब्दों कहें तो 'खेती का संकट समूची कृषि के संकट (एग्रेरियन क्राइसिस) से होता हुआ अब सभ्यता के संकट (क्राइसिस ऑफ़ सिविलाइज़ेशन) का रूप ले चुका है।' मतलब यह कि अब किसी भी तरह जीवन बचाने की पहेली सिर्फ़ खेती करने वाले 10 करोड़ पूर्णकालिक किसानो की नहीं रही। यह 6 महीने से कम खेती का काम करने वाले अंशकालिक किसान और खेतमज़दूरों से होती हुई देहाती अर्थव्यवस्था पर निर्भर जुलाहों, मिस्त्री, बढ़ई, दर्जी, पशुपालक, वनोपज संग्राहक, छोटे दुकानदारों को भी अपने दायरे में लेते हुए देश की आधी आबादी को चपेट में ले चुकी है। यह एक असाधारण स्थिति है — सिर्फ़ आज नहीं दूरगामी कल और एक बड़े कालखंड तक असरकारक रहने वाली है। यदि इसे अनकिया करने के लिए तुरंत कुछ नहीं किया गया तो इसके प्रभाव सिर्फ़ आर्थिक नहीं होंगे, सभ्यता, संस्कृति, सोचविचार सहित सामाजिक ढांचे और बुनावट को भी नकारात्मक तरीक़े से बदलने वाले होंगे। कोरोना विपदा - जिसे पेंडेमिक और महामारी कहा जा रहा है —ने इस दिशा में गिरावट और पराभव दोनों ही तीव्र कर दिये हैं।

अब तक के नीतिजनित संहारों से लहूलुहान खेती और किसानी को तुग़लक़ी तरीक़े से किये गये कोरोना लॉकडाउन ने मृत्युशैया पर पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। रबी की फ़सल काटने के ऐन पहले थोपे

लॉकडाउन ने उसकी कटाई और गहाई रुकवा दी। जैसे तैसे फ़सल काट भी ली तो कोविद-19 प्रोटोकॉल की आड़ में सरकारें उसे ख़रीदने से साफ़ मुकर गयीं। बड़े आढ़तिये और कारपोरेट एजेंसियां ख़रीद में कूद पड़ीं। किसान को स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों के मुताबिक़ दाम मिलना तो दूर रहा घोषित न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) भी नहीं मिला। नकदी फ़सल के हाल तो और भी बुरे हुए। लाखों टन कपास नहीं बिका – ताज़े भविष्य में उसके बिकने के आसार भी नज़र नहीं आ रहे। गन्ना, फल, फूल, सब्ज़ी, डेरी उत्पाद सब किसान की आंखों के सामने पड़े हैं - सड़ गल रहे हैं। आमदनी और मुनाफ़ा छोड़िए लागत भी नहीं निकली - नतीजे में ख़रीफ़ की फ़सल के लिए बीज, खाद, कीटनाशक ख़रीदने के लिए भी गांठ में कुछ नहीं बचा। उस पर महामारी को अवसर मानने की आपराधिक समझदारी के अमल में आवश्यक वस्तु अधिनियम और एपीएमसी में किये गये बदलावों से फ़सल की ख़रीदी में देसी विदेशी कारपोरेट कंपनियों को खुली छूट देने से स्थिति में सुधार की सारी संभावनाएं समाप्त कर दी गयी हैं। सीधे कृषि के अलावा उससे जुड़े समाज में ऐसे अनेक उद्यम और रोज़गार हैं जो कालातीत होने जा रहे हैं। नाई, मछुआरे, जुलाहे, बुनकर, हैंडलूम और हैंडीक्राफ्ट - सब फ़िलहाल समाप्त हैं। ये छोटे मोटे काम नहीं हैं। खेती के बाद का सबसे बड़ा रोज़गार हैंडीक्राफ्ट और हैंडलूम है जिनके लिए कोई उम्मीद बर नहीं आती - कोई सूरत नज़र नहीं आती। इसके अलावा एक बड़ा रोज़गार शिक्षकों का है जिनकी विलुप्ति का ज़रिया ऑनलाइन शिक्षा के बाज़ार में कूदी बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा खोजा जा चुका है।

दूसरी बड़ी और गुणात्मक घटना प्रवासी मज़दूरों की वापसी है - असल में इस विषय को प्रवासी मज़दूरों का मानना ही एक ग़लत समझदारी है। ये प्रवासी मज़दूर नहीं है, इनका विराट बहुमत विस्थापित किसान हैं। वे किसान जो गांव में अपनी ज़मीन पर ज़िंदा नहीं रह पाये और कमाई की आस में बाहर चले गये। इन्हे माइग्रेंट लेबर कहने वाले भारतीय ग्राम समाज के बारे में कुछ नहीं जानते। बिहार, पंजाब, ओड़िसा हो या झारखंड, उत्तराखंड, छत्तीसगढ़ हो, कहानी एक सी है। परिवार का पिता या बड़ा भाई गांव में खेती देखता है, बाक़ी भाई मज़दूरी करने बाहर जाते हैं। दोनों की आमदनी से बमुश्किल घर चलते है। इनकी तादाद हर रोज़ बढ़ रही है। जनगणना रिपोर्ट बताती है कि नवउदार नीतियों के काल में 1991 से 2011 के बीच सरकार की नीतियों से आजिज आकर, खेती किसानी के घाटे के चलते डेढ़ करोड़ वयस्कों ने खेती छोड़ दी। हर रोज़ 2500 किसान किसानी छोड़ रहे हैं। यों भी इस देश में 85 प्रतिशत किसान लघु या सीमांत किसान हैं - मतलब वे किसान जिनका अपनी खेती से गुज़ारा नहीं चल सकता। घर में से कुछ को काम करने बाहर जाना ही होता है। आधी ग्रामीण आबादी भूमिहीन या खेतमज़दूर है। यही वजह है कि भारत के मज़दूर की ख़ासियत गांव के साथ उसका रिश्ता है। यह बहस चल रही है कि जो मज़दूर लौटे हैं वे वापस जायेंगे या नहीं, जायेंगे तो कब जायेंगे - जबकि सही आंकलन करना है तो इस सवाल को सिर के बल खड़ा करने की बजाय इसके पांवों पर सीधा खड़ा करना होगा और वह यह होगा कि ये गांव से शहर गये ही क्यों थे ?

2011 जनगणना के अनुसार भारत में कुल प्रवासी - काम की तलाश में अपने राज्य से दूसरे राज्य, अपने ज़िले से बाहर जाने वाली आबादी 45 करोड़ 36 लाख थी। कुल आबादी का करीब 37% - इनमें से अनेक जहां गये वहां बस गये। ज़्यादातर मामलो में अपने ग्रामीण परिवारों की आमदनी का ज़रिया बने रहे। अभी कोविद-19 के हमले के बाद प्रभावित हुए प्रवासी ही गिन लें तो वे कम नहीं हैं। प्रो अमिताभ कुंडू की शोध के मुताबिक़ ये कोई 65 मिलियन हैं - 6 करोड़ 50 लाख। विश्व बैंक ने अपनी 22 अप्रैल की रिपोर्ट में इसे 40 मिलियन याने 4 करोड़ बताया। वही सेंटर फ़ॉर डेवलपमेंट स्टडीज़ (सीडीएस) के मुताबिक़ इनकी संख्या 5 करोड़ है। इनमे से 73% प्रवासी मज़दूर कोरोना लॉकडाउन के बाद अपना रोज़गार खो चुके हैं - यह आंकड़ा बेरोज़गारी के उस अनुमान के साथ पढ़ा जाना चाहिए जिसे सीएमआईई ने दिया और बताया कि कोई 14 करोड़ बेरोज़गार हो चुके हैं। अज़ीम

प्रेमजी यूनिवर्सिटी के सर्वे के हिसाब से शहरी इलाक़ों की आबादी का 29 प्रतिशत रोज़ कमाने खाने वालों का है और उनके सर्वे के अनुसार शहर के 10 लोगों में से 8 का काम छिन चुका है।

भारत के इतिहास का यह सबसे बड़ा मानव पलायन है - 5000 वर्ष की सभ्यता के लिखित इतिहास में पृथ्वी के इस खंड, जिसे भारत कहा जाता है, में लोग आये और बसे, भारत को बसाया शक, हूण, कुषाण, यवन, तुर्क, मंगोल, गुर्जर, आर्य और न जाने कितने क़बीले और समूह आये और बसे और भारत बनाया। फ़िराक़ गोरखपुरी के शब्दों में 'सरज़मीने हिंद पर अक़वामे आलम के फ़िराक़/ काफ़िले बसते गये हिंदोस्तां बनता गया।'। आगमन का इतिहास है पलायन का नहीं। इतने कम समय में इतना बड़ा पलायन तो कभी नहीं हुआ - यह महापलायन है।

एक बार अंग्रेज़ों के राज में यह हुआ था। 18 वीं सदी में शहरी आबादी 50 प्रतिशत थी जो 19 वी सदी में 15 प्रतिशत रह गयी। यह अंग्रेज़ों की नीति का असर था। ढाका की आबादी 1880 में 2 लाख थी जो 1890 में 79 हज़ार और 1910 आते आते 20 हज़ार रह गयी। मगर यह 80-90 वर्षों में क्रमशः हुआ था। एक पलायन 1896 में बंबई से तब हुआ था जब वहां प्लेग फैला था - बंबई की तब की कुल आबादी साढ़े आठ लाख थी - जिसमें से 4 लाख लौट आये थे। मगर यह अस्थायी वापसी थी। इस बार वापसी अस्थायी नहीं है - आधे से ज़्यादा यदि वापस जाना चाहेंगे भी तो नहीं जा पायेंगे क्योंकि मंदी उनका काम हज़म कर चुकी होगी। जो पहुंचेंगे वे श्रम कानूनों की समाप्ति के बाद 12 घंटे काम और घटी आमदनी पर कितना टिक पायेंगे ये अलग कितु ज़रूरी सवाल हैं। यहां इस महापलायन के किसानी और देहाती अर्थव्यवस्था पर होने वाले असर तक ही बात को सीमित रखते हैं।

यह मामला भी अब नक्की हो चुका है कि क्या इसे टाला जा सकता था। चार घंटे के नोटिस की बजाय 4 दिन की पूर्व सूचना से लॉकडाउन होता, धड़ाधड़ रेलगाड़ियां, बसें चलायी जातीं - लॉकडाउन में रहने, खाने और वेतन देने की गारंटी की जाती - जिन्हे लौटना होता वे आ जाते - ज़्यादातर वहीं रुक जाते। केरल में ऐसा ही हुआ - वहां 25 से 30 लाख केरल के बाहर के कामगार हैं - गेस्ट लेबर, अतिथि श्रमिक ; इन पंक्तियों के लिखे जाने तक इनमे से सिर्फ़ 3 या 4 प्रतिशत वापस लौटे हैं ।

बड़ा सवाल यह है कि इस वापसी के क्या असर होंगे। मोटे तौर पर इसके तत्काल तीन आर्थिक असर होने वाले हैं। पहला इनके ज़रिये गांव आने वाली वाली आमदनी बंद हो जायेगी। दूसरा पहले से अपर्याप्त संसाधनों पर बोझ बढ़ेगा, तीसरा श्रम सस्ता होगा, जो काम मिलेगा उसमे दाम कम मिलेगा। मैक्रो असर भी होंगे. अनौद्योगीकरण का ख़तरा बढ़ेगा । मंदी गहरी और दीर्घायु होगी ।

मनोवैज्ञानिक और सामाजिक असर भी होना तय है, वे तो दिखना शुरू भी हो चुके हैं। वापसी में जो लांछना, प्रताड़ना और अपमान झेला है उसकी कोई मिसाल नहीं। दिल्ली को संवारने वाले जब खदेड़ दिये गये तो रेलवे स्टेशन, बस अड्डों पर हज़ारों की तादाद में खड़ी भीड़ को भाजपा - आम आदमी पार्टी जैसे दलों और खाये अघाये लोगों ने दुत्कारा, बिहारी या जौनपुरिया होना गाली की तरह उपयोग में लाया, उन्हें महामारी का ज़िम्मेदार बताया। इसने जो वेदना दी है उसे ठीक होने में कितने वर्ष लगेंगे। बिहारी, पुरबिये, भइये कहकर विभाजन की राजनीति करने वालों ने इस जनता के श्रम का अनादर ही नहीं अपमान भी किया है।

इसके अलावा वापसी के झमेले और अलग भी है ; उनमे पारिवारिक कलह ,संपत्ति विवाद, बंटवारे की हायतौबा और ख़ाली दिमाग़ शैतान के घर मार्का घटनाएं शामिल हैं । इनका बड़ा शिकार होने वाली हैं महिलाएं और उनके साथ इसे भुगतेंगे बच्चे, जिनसे पढ़ाई भी छिनेगी कैलोरी भी और चौपट होगा ।

बीस लाख करोड़ के पैकेज में किसानों के लिए कुछ मत ढूंढ़िए - मेहनत व्यर्थ जायेगी। कृषि के नाम पर जो है भी वह कृषि आधारित उद्योगों (एग्री-बिजनेस) के लिए है। किसानों के लिए, देहाती आबादी के लिए बस

जुमले ही जुमले हैं या फिर हर तरह के निजीकरण, कारपोरेटीकरण और श्रम तथा किसानी के क़ानूनों का बदला जाना है जो महाविनाश का कारण बनेगा। यों भी दरबारी पूंजीवाद में दरबारी मालामाल होते हैं — देश और उसके वासी तो बदहाल ही होते हैं।

किसान संगठनों, वाम दलों ने इससे उबरने के फ़ौरी, मध्यावधि और दीर्घावधि ठोस क़दम सुझाये हैं, जिन्हे दोहराने की बजाय एक वाक्य में कहा जा सकता है कि मौजूदा रास्ता बदलो, सामाजिक आर्थिक न्याय पर आधारित कल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर वापस लौटो। मगर भारत में इस बार हालात कुछ ज़्यादा ही जटिल हैं, क्योंकि हमला कुछ ज़्यादा ही बुनियादी और सर्वआयामी है। भारत की विशेष परिस्थिति में कोरोना को समझना होगा — कोरोना मतलब कोविद-19 प्रोटीन का एक अणु है जिसके चारों तरफ़ चर्बी की एक परत है। ठीक वैसे ही भारत में पोंगापंथ और पिछड़ी चेतना का एक संक्रामक हानिकारण अणु है जिसका नाम *मनुस्मृति* है - जो कारपोरेट की चर्बी लपेट कर आया है। वे एक ऐसा समाज लाना चाहते हैं जिसमें उनका युद्ध अपने ही देश के नागरिकों के ख़िलाफ़ है। वे कोरोना को टोपी पहना रहे हैं, उसकी जाति, वर्ण और वर्ग तय कर रहे हैं। अभी मुसलमानों के ख़िलाफ़ हैं, उन भारतीय नागरिकों के जिन्होंने बंटवारा ठुकराया था — हज़ार साल में भारतीय सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, कला और निर्माण से भारत को समृद्ध करने में बहुमूल्य योगदान दिया था. किंतु वे भी सिर्फ़ रैलिंग पॉइंट हैं, असली निशाना 85 प्रतिशत भारतीय हैं जो मनु के श्रेणीक्रम में दलित, शूद्र, पिछड़ी जाति और आदिवासी हैं। वे महिलाएं हैं जिन्हें ये ठग शूद्रातिशूद्र मानते हैं। लोकतांत्रिक अधिकारों पर हमले कर रहे हैं, असहमति को कुचलने के लिए 1975 की इमरजेंसी से हज़ार गुना अधिक तानाशाही थोप रहे हैं। भारत में कोरोना की समाप्ति के लिए - इस मनु नाम के अणु और कारपोरेट नाम की चर्बी के खोल - दोनों से लड़ना होगा।

और अंत में :

इस टिप्पणी का अंत शुरुआत में कही गयी बात के पुनरावलोकन के साथ करना ठीक होगा। और वह यह है कि कौटिल्य अंतिम सत्य नहीं हैं। युद्ध और महामारियां इतिहास की धारा को बदल भी सकती हैं। इसके सिर्फ़ तीन ही उदाहरण काफ़ी हैं। 1346 से 1353 में यूरोप में आयी और उस महाद्वीप की तक़रीबन आधी आबादी को मार डालने वाली ब्लैक डेथ महामारी में इतने सारे लोग मारे गये कि नतीजे में दास प्रथा पर चोट पडी, मज़दूर कम रह गये तो मज़दूरियां भी बढ़ीं और मजबूरी में आकर नयी तकनीक खोजने के लिये ख़र्चा, ज़िद और पहलें भी बढ़ीं।

इसी तरह 1914-1918 का पहला विश्वयुद्ध था जिसके बीच साम्राज्यवादी ताक़तों के बीच तीखे हुए टकरावों का फ़ायदा उठाते हुए 1917 में दुनिया की पहली समाजवादी क्रांति हुई। यही दूसरे विश्वयुद्ध (1939-1945) में हुआ जिसने दुनिया की भू-राजनीतिक दशा ही हमेशा के लिए बदल कर रख दी। एशिया, अफ्रीका के अनेक देशों की राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियां सफल हुइं, उपनिवेशवाद का वर्चस्व टूटा और पूर्वी यूरोप में कई समाजवादी देश अस्तित्व में आये।

गरज ये कि सब कुछ शोषक वर्गी हुक्मरानों के चाहने से नहीं होता - जनता की शक्ति ही सबसे बड़ा निर्णायक सत्य है। सही समय पर कारगर हस्तक्षेप हो तो युद्ध और महामारियों के बीच चाणक्य और उनके शासकों का टाट उलटा भी जा सकता है। क्योंकि कठिन से कठिन आशंकाओं से भरे हालात भी बेहतर से बेहतरतम संभावनाओं से भरे होते हैं।

मो0 9425006716

कोरोना काल : तबाही के मंज़र-2

कोरोना काल में लुटा दीं कोयला खानें

गिरीश मालवीय

रेलवे और एयरपोर्ट के बाद अब मोदी सरकार ने देश की कोयला खदानों को थभी देशी विदेशी पूंजीपतियों को सौंप दिया है। कोयला सेक्टर में सरकार ने कमर्शियल माइनिंग की इजाज़त दे दी है। कोयला खनन में सरकार का एकाधिकार ख़त्म कर दिया गया है। साथ ही कोयला क्षेत्र में आधारभूत ढांचे के लिए 50 हज़ार करोड़ का ख़र्च भी किया जायेगा। शुरुआत में 50 कोल ब्लॉक को कमर्शियल माइनिंग के लिए रखा जा रहा है। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के कोयला उद्योग का एकाधिकार ख़त्म कर दिया, इससे निजी कंपनियों को कोयला खनन और मार्केटिंग का अधिकार मिल गया। इस तरह भारतीय कोयले के कारोबार को ललचायी नज़रों से देखने वाले देश-विदेश के पूंजीपतियों की मुरादें अंतत: पूरी हो गयी हैं। कोल इंडिया के मज़दूरों के बुरे दिन और उद्योगपतियों के अच्छे दिन आ गये हैं।

सत्तर के दशक में कोयले की खदानों का राष्ट्रीयकरण करने के बाद 1973 में कोल इंडिया की स्थापना की गयी थी। राष्ट्रीयकरण से पहले कोयले का खनन निजी हाथों में था। उस समय मज़दूरों के शोषण और अवैज्ञानिक खनन ने सरकार को चिंतित कर दिया था। कोयला खदानों में दुर्घटनाएं भी आम बात हुआ करती थीं। पिछले साल मेघालय में निजी कोयला खदान में हुई दुर्घटना आपको याद ही होगी। दरअसल, कोयला खदानों के राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य ही अपव्ययी, चयनात्मक और विध्वंसक खनन को रोकने के अलावा कोयला संसाधनों का सुनियोजित विकास और सुरक्षा मानकों में सुधार करना था।

लेकिन इस सरकार के आते ही तेज़ी से देश के हर महत्वपूर्ण उद्योग का निजीकरण शुरू हो गया। मार्च 2015 को संसद ने कोयला खनन (विशेष प्रावधान) विधेयक पास किया। इस विधेयक में निजी क्षेत्र द्वारा व्यावसायिक खनन का प्रावधान था। इसी विधेयक ने कोल इंडिया का एकाधिकार ख़त्म करने और खनन में निजी भागीदारी सुनिश्चित करने में अहम भूमिका निभायी। और अब बची खुची सभी क़ानूनी पाबंदियों की बाधाओं को भी समाप्त कर दिया गया।

अडानी और वेदांता रिसोर्सेज़ के अलावा बीएचपी, रियो टिंटो और ग्लेनकोर से लेकर एंग्लो अमेरिकन जैसी नामचीन बहुराष्ट्रीय खनन कंपनियां भारतीय कोयला खानों पर अधिकार जमाने को तैयार है और भारत की महारत्न कंपनी कोल इंडिया अपनी आख़िरी सांसें गिनने जा रही है।

कोयला खदान के उदारीकरण के बाद विदेशी खनन फ़र्में आती हैं तो ज्यादा संभावना है कि खननकर्ता इसमें मशीनों का इस्तेमाल बढ़ायेंगे और इस क्षेत्र में संभवत: नौकरियों का सृजन नहीं होगा, जबकि उत्पादन में वृद्धि हो सकती है।

लिख कर रख लीजिए, कुछ ही समय बाद मोदी सरकार 400 रुपये प्रति टन लगने वाले कार्बन टैक्स को हटाने को भी तैयार हो जायेगी।

कोयला उद्योग के इस निजीकरण को बहुत शातिराना तरीक़े से अंजाम दिया गया है। कोल इंडिया

लिमिटेड ने 'कोल विज़न– 2030' जारी किया था। उसमें कहा गया था कि मौजूदा व्यवस्था में साल 2020 तक देश में 9 -10 करोड़ टन और साल 2030 तक 19 करोड़ टन तक कोयले का उत्पादन होगा। इस अवधि में कोयले की मांग साढ़े 11 करोड़ टन से लेकर साढ़े 17 करोड़ टन तक रहेगी। आंकड़ों से स्पष्ट है कि कोयला उद्योग में निजी भागीदारी के बिना ही देश की ज़रूरतें पूरी होती रहतीं। लेकिन जानबूझकर ऊंचे लक्ष्य निर्धारित किये गये ताकि यह दिखाया जाये कि कोल इंडिया सही तरीक़े से काम नहीं कर रहा है और कोयला उद्योग के निजीकरण की ज़रूरत है।

मोदी सरकार देश को 'आत्मनिर्भर' नहीं, बल्कि देशी विदेशी पूंजीपतियों पर निर्भर बनाना चाहती है। जैसे *रन* फ़िल्म में कॉमेडियन विजय राज को गंगा गंगा बोलकर नाले में कुदा दिया जाता है, वैसे ही मोदी जी 'आत्मनिर्भर' बनाने का नारा देकर देश को बेच रहे हैं और भक्त ताली बजा रहे हैं।

इससे बड़ा क्या दुर्भाग्य हो सकता है इस देश का?

मो0 9826633990

कोरोना काल : तबाही के मंज़र-3

कोविड काल : बहुजनों के लिए आफतकाल

भंवर मेघवंशी

कोविड-19 के संक्रमण काल के दौरान लादे गये लॉकडाउन ने सबसे ज़्यादा हाशिये के समुदायों को प्रभावित किया है। उनकी रोज़ी-रोटी, आवास ,भोजन की सुरक्षा तथा गरिमापूर्ण जीवन जीने के अधिकार पर इस दौरान गहरी चोट पहुंची है।

आजीविका का संकट

यह तो स्थापित तथ्य है ही कि बहुजन समाज की विभिन्न जातियों के लोग मेहनत मज़दूरी करके अपना जीवन यापन करते हैं। अधिकांश लोग प्रवासी मज़दूर के रूप में रोज़ी-रोटी की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह पलायन भी करते हैं। इनमें ज़्यादातर लोग ऐसे होते है, जो भूमिहीन हैं और अपने मूल निवास के क्षेत्र में रोज़गार नहीं मिलने के कारण देश के विभिन्न राज्यों में श्रमसाध्य काम करने के लिए भ्रमण करते रहते है। लॉकडाउन की लंबी अवधि के चलते इन मेहनतकश लोगों के रोज़गार के साधन छिन गये है। दुकानें, ईंट-भट्टे, फ़ैक्ट्रियां, निर्माण मज़दूरी, खेत मज़दूरी आदि के बंद हो जाने से करोड़ों की तादाद में ग़रीब श्रमिक आजीविका के गंभीर संकट में फंस गये है।

राजस्थान के भीलवाडा ज़िले में जहां मेरा पुश्तैनी घर है, यहीं मैंने लॉकडाउन की अवधि गुज़ारी है। मैंने यहां से जाते हुए श्रमिक और यहां पर लौटकर आते हुए श्रमिक दोनों देखे हैं। यहां पर 200 से ज़्यादा ईंट भट्टे हैं। चार सौ से ज़्यादा टेक्सटाइल यूनिट्स हैं, जिनमें वस्त्र निर्माण का काम होता है । राजस्थान प्रदेश ईंट भट्टा मज़दूर यूनियन के मुताबिक़ इन ईंट भट्टों में लगभग 20,000 श्रमिक नियोजित हैं। ये श्रमिक उत्तर प्रदेश के बांदा और चित्रकूट तथा बिहार के बांका, गया, भागलपुर तथा शैकपुरा आदि ज़िलों के निवासी हैं। इन श्रमिकों में से 95 फ़ीसद श्रमिक दलित पिछड़े बहुजन समाज के रैदास, लइया (कादर) तथा मांझी समुदाय से आते हैं। कोरोना काल का सबसे अधिक ख़ामियाज़ा इन अति ग़रीब लोगों को भुगतना पड़ रहा है। अब हाल यह है इनको उदरपूर्ति और घर वापसी के लिए अपने जीवन के सबसे मुश्किल संकट का सामना करना पड़ रहा है। खाने का सामान ख़त्म हो रहा है। मालिकों ने काम बंद कर दिया है। मानसून आने ही वाला है, जिससे इनके रहवास की झोंपड़ियों के डूब जाने का ख़तरा है, पर इनकी सुध लेने वाला कोई नहीं है।

इसी तरह टेक्सटाइल फ़ैक्ट्रियों में कार्यरत लाखों मज़दूरों के साथ भी मुश्किलात पेश आ रही हैं। मालिक उन्हें घर बैठे वेतन देना नहीं चाहते और फ़ैक्ट्रियां भी लॉकडाउन के चलते चलाना नहीं चाहते हैं। हद तो यह है कि चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्रीज ने प्रशासन से मांग की है कि मज़दूरों को स्पेशल ट्रेन से घर न भेजा जाये क्योंकि अगर वे वापस चले जाते हैं तो जब भी पूरी तरह से अनलॉक होगा, तब मज़दूर कहां से लाये जायेंगे ? पूंजीवादी व्यवस्था कितनी भयानक है! इन्हें मज़दूरों की भूख, उनके वेतन, उनके स्वास्थ्य और उनकी सुरक्षित घर वापसी से कोई मतलब नहीं है। उन्हें तो सिर्फ़ सस्ते श्रमिक चाहिए जो इस देश में बहुजन समाज के रूप में मौजूद हैं।

खाद्य सुरक्षा का सवाल

लॉकडाउन जिस तरह लागू किया गया वह नोटबंदी जैसी ही मानव निर्मित आपदा बन गया है। इसके चलते सड़कों पर रहने वाले, बेघर, शहरी झोंपड़पट्टी के निवासी, घुमंतू जनजातियों के लोग तथा ग़रीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले परिवारों को अचानक रोज़ी ही नहीं बल्कि रोटी तक से महरूम होना पड़ गया है। हालांकि सरकार ने राशन के राहत किट वितरित किये हैं, कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं ने भी पके हुए भोजन के पैकेट बांटे हैं, लेकिन यह व्यवस्था बिल्कुल नाकाफ़ी सिद्ध हुई है। कई परिवारों में बड़ी तादाद में बच्चों की मौजूदगी देखी गयी जिन्हें 15 दिन के लिए 10 किलो सूखा राशन दिया गया। कहीं-कहीं तो महीने में महज़ एक बार ही अनाज और थोड़ी सी दाल व तेल मिला है जो इतना कम है कि उससे परिवार के लोगों की भूख नहीं मिटायी जा सकती।

यह भी देखने मे आया कि लॉकडाउन में लोग जब घरों में ही रहे, इस दौरान छोटे बच्चों के लिए दूध व पौष्टिक आहार की कोई व्यवस्था नहीं हो पाने से पहले से ही कुपोषण झेल रहे बच्चे व महिलाएं खाद्य सुरक्षा के गंभीर संकट से दो चार हो गये हैं। शनै: शनै: आ रही है विकराल भुखमरी! साफ दिख रहा है कि आने वाले वक़्त में यह कोरोना से भी बड़ा संकट बन जाने वाली है।

राहत कार्य में भेदभाव

वैसे तो दलित और आदिवासी समुदाय के लोग तरह तरह के शोषण व भेदभाव से पीड़ित होते ही हैं, लेकिन कोरोना काल में विभिन्न स्थानों से आयी ख़बरों से पता चलता है कि राहत के लिए बांटी गयी सामग्री में भी भेदभाव हुआ है तथा 'रिवर्स माइग्रेशन' के पश्चात गांव में पहुंचे वंचित वर्ग के लोगों को मनरेगा जैसी योजनाओं में काम दिये जाने में भी भेदभाव किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में वंचित समाज के लोग कैसे जीवन बचा पायेंगे क्योंकि उनके पास अब न तो काम है, न खेती के लिए ज़मीनें हैं! वे अपने परिवार का पालन पोषण कैसे करेंगे !

घुमंतू समुदायों का दुख

ट्रेनों में खेल दिखाकर भिक्षावृत्ति करने वाले, कठपुतलियों का प्रदर्शन करने वाले, घर घर जाकर गाना गाने वाले, नृत्य दिखाने वाले तथा जंगली जानवरों के ज़रिये मनोरंजन करने वाले, एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर आयुर्वेदिक जड़ी बूटियां बेचने वाले, शहरी क्षेत्रों में कचरा बीनने वाले, लाल लाइटों पर फूल बेचने वाले तथा वाद्य यंत्र बजाने व बेचने वाले और ट्रांसजेंडर समुदाय के लोगों को इस लॉकडाउन ने बेरोज़गारी व भुखमरी के मुंह में धकेल दिया है। इन दिनों पूरे के पूरे शहर बंद रहे हैं। ट्रेन व बसें नहीं चली हैं। ऐसी स्थिति में इन लोगों के लिए कमाई का कोई भी ज़रिया नहीं बचा जिससे वे अपनी ज़िंदगी चलाने के लिए कोई काम कर सकें। अकेले राजस्थान में घुमंतू समुदाय की ऐसी 32 जातियां है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर अपना जीवन यापन करती हैं, देश भर में ऐसे डिनोटिफाइड जनजाति समूहों की संख्या 600 से भी ऊपर है तथा इनकी आबादी करोड़ों में है। कोविड-19 के चलते लागू लॉकडाउन में घुमंतू ,अर्ध घुमंतू व विमुक्त जातियों के सामने नयी चुनौतियां खड़ी कर दी हैं, जिसके लिए वे कभी तैयार नहीं थे। इन समुदायों के लिए विशेष आर्थिक पैकेज की ज़रूरत है। लेकिन, सत्ता इनके संकट को अलग से देख पाने में सक्षम नहीं है।

कोरोना से भी भयानक वायरस

राष्ट्रीय अपराध नियंत्रण ब्यूरो तथा विभिन्न प्रदेशों के पुलिस मुख्यालयों से प्राप्त आंकड़ों पर नज़र डालें तो

लॉकडाउन की अवधि के दौरान आपराधिक घटनाओं में अप्रत्याशित रूप से कमी आने के दावे किये जा रहे हैं। कुछ हद तक यह सही भी है। लोग कोविड-19 के भय से बाहर कम ही निकले हैं, इसीलिए लूटपाट, क़त्लोगारत, अपहरण आदि आपराधिक मामलों में कमी आना स्वाभाविक है। मगर इस संक्रमण काल में दलितों व मुसलमानों के प्रति नफ़रत में, भेदभाव में बढ़ोतरी हुई है।

क्वारंटीन सेंटर्स में दलित रसोइयों के हाथ का बना खाना नहीं खाने से लेकर दलित स्वास्थ्य कर्मियों से, आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं के साथ जातिगत भेदभाव के कई मामले इस दौरान उजागर हुए हैं। यहां तक कि कोरोना वारियर्स के रूप में कार्यरत दलित आदिवासी कार्मिकों के साथ जातीय दुर्व्यवहार तथा अन्याय अत्याचार के प्रकरण सामने आ रहे हैं। इस तरह हम देख सकते हैं कि कोरोना जैसी प्राकृतिक आपदा से भी लोगों ने कोई सबक़ नहीं सीखा है।

शायद कोरोना की जल्द ही वैक्सीन बन जायेगी, मगर जाति के आधार पर घृणा का वायरस तब भी लाइलाज ही बना रहेगा। अभी से यह साफ़ दिखायी दे रहा है कि हाशिये के समुदायों के लिए आने वाले समय मे कईं चुनौतियां प्रतीक्षारत हैं। दलित आदिवासी व घुमंतू जातियों को काम की कमी के चलते गांवों में फिर से बेगार करनी पड़ सकती है। न्यूनतम मज़दूरी भी नहीं मिलने की आशंका है। बच्चों की शिक्षा, महिलाओं की सुरक्षा तथा गरिमापूर्ण आजीविका को लेकर कई तरह की मुश्किलें आने वाली हैं।

प्रवासी श्रमिकों के प्रति पलायन के बाद से गांवों में अभी से आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक वर्चस्व के लिए टकराव की स्थितियां दिखने लगी हैं, जो कभी भी हिंसक झगड़ों का रूप धारण कर सकती हैं।

कोरोना के बाद का यह वक़्त दलित, आदिवासी, घुमंतू, तथा अल्पसंख्यक समाजों के लिए सबसे भयानक चुनौती वाला साबित होने जा रहा है, जहां उन्हें अराजकता, आजीविका के संकट, खाद्य असुरक्षा, जातिजन्य भेदभाव व शोषण और भुखमरी तथा बेकारी से जूझना है। यह कोविड काल देश के दलित बहुजन आबादी के लिए एक घनघोर अंधेरी रात बनता जा रहा है जिसकी फ़िलहाल कोई सुबह नज़र नहीं आ रही है। बहुत सारी नयी चुनौतियां मुंह बायें खड़ी हैं जिनसे जूझना आसान नहीं होगा।

मो- 95710 47777

कोरोना काल : तबाही के मंज़र-4

महामारी में दलित

गुलाब सिंह

सभ्यता के इतिहास में महामारियां आती रही हैं और जाती रही हैं। हम महामारियों के इतिहास में जाकर उस दौर का उल्लेख नहीं करेंगे। वह इतिहासकारों का विषय है। सांख्यिकीय आंकड़े दिखा कर बेरोज़गारी कितनी बढ़ी या शेयर बाज़ार कितना उठा-गिरा यह बताने का काम अर्थशास्त्री का है। आसमान और हवा कितनी साफ़ हुई, नदियों का जल कितना निर्मल हुआ, बर्फ़ से ढके पर्वत मैदानी शहरों से दिखने लगे, जंगली जानवर इंसानों के आवासीय क्षेत्रों की सीमाओं में आ गये, कुत्तों और बंदरों को खाने की भारी क़िल्लत होने लगी, यह पर्यावरणविद और पशु प्रेमी जानें। राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक समीकरण कैसे बदल रहे हैं और ये सब आने वाले समय में किस प्रकार का स्वरूप ग्रहण करेंगे, यह राजनीतिशास्त्र का विषय है। कोरोना के उपचार के लिए दवा बनी या बनेगी और उस दवा से कौन कितना पैसा कमायेगा फ़िलहाल इस बारे में सोचना भी हमारा विषय नहीं है। यद्यपि मनुष्य होने के नाते ये सभी विषय जितना एक को प्रभावित करेंगे उतना ही दूसरे के जीवन पर भी असर डालेंगे। ये सारे मसले स्पष्ट तौर पर इंसानी जीवन से गहरे तौर पर संबंधित है जिनसे बचा नहीं जा सकता। किंतु, इस सबके साथ-साथ दलित की पहचान रखने वाले समूह, जिन्हें परंपरा से अछूत कहा गया और जिनसे छुआछूत बरती गयी, इस वृहद समूह को कोरोना जैसी महामारी एक अलग रूप में भी प्रभावित करेगी। इसकी शिनाख़्त किये बिना इस दौर में उत्पीड़ितों के उत्पीड़न की मुक्कमिल तस्वीर सामने आने से रह जायेगी। इसलिए इस अहम मुद्दे पर विचार करना एक आवश्यक कार्यभार है।

कोरोना एक वायरस से फैलने वाली बीमारी है। यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को छूने से फैलती है। कोरोना ग्रसित व्यक्ति स्वयं, उसके द्वारा छुए गये सामान या स्थान के संपर्क में जब अन्य व्यक्ति आते हैं तो यह अत्यन्त सूक्ष्म वायरस उसके हाथों और फिर नाक, कान या मुंह के ज़रिये श्वास नली में प्रवेश कर जाता है। इसके नतीजे में उस व्यक्ति या व्यक्तियों में इस रोग का संक्रमण हो जाता है। इसके बचाव के लिए चिकित्सा जगत में सोशल-डिस्टेंसिंग का व्यवहार करने की तजवीज़ की जाती है। यह सामाजिक दूरी नहीं वस्तुतः शारीरिक दूरी होनी चाहिए। किंतु, छुआछूत की सामाजिक बीमारी के प्रति सचेत लोगों के द्वारा इसकी मनाही के बावजूद यह सोशल-डिस्टेंसिंग ही कही जा रही है जो परंपरागत अस्पृश्यता के शिकार वर्गों के प्रति छुआछात की गलाजत को फिर से ताज़ा करा रही है। वही घृणा अपमान का घूंट जिसे दलित जातियां सदियों से पीने को मजबूर थीं उन्हें आज फिर परोसा जा रहा है। बोतल में बंद जिन्न एक बार फिर बोतल से निकल हमारे सामने आ खड़ा हुआ है। इससे सत्ता की जातीय भेदभाव के प्रति ग़ैरसंजीदगी का पता चलता है। इतना ही नहीं, वह स्वयं जातिवादी समूहों की भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। निम्न कही जाने वाली जातियों पर की जाने वाली वारदातों के संदर्भ में स्वयं प्रधानमंत्री ने एक बार कहा था कि इसे एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर किये गये अपराध की तरह देखो, जातीय अपराध के रूप में नहीं। इससे उनमें जातीय उत्पीड़न की उपस्थिति से साफ़ इनकार करने का भाव छिपा है और फिर उसे दूर करके लोकतंत्र और समता के मूल्यों को स्थापित करना तो दूर की बात। यह क़ाबिले ग़ौर है कि उसी संविधान की शपथ

लेकर प्रधानमंत्री और उनका मंत्रिमंडल पद संभालता है जिसके उपबंधों का उल्लंघन अक्सर वे करते रहते हैं।

कृषि में मशीनों के आ जाने से उस पर निर्भरता कम हुई। इसके परिणाम स्वरूप गांव से बड़ी संख्या में पलायन करके लोग महानगरों या अपेक्षाकृत उन्नत राज्यों के छोटे-बड़े शहरों में काम की तलाश में आये। इन नगरों में स्थित छोटे-मंझोले-मध्यम आकार की औद्योगिक इकाइयों से लेकर बड़े उद्योगों में भी अपना श्रम बेचने को उपलब्ध हुए। यहां ये तुलनात्मक रूप से किंचित बेहतर आमदनी पाने में कामयाब हुए। इन श्रमिकों का शहरों में आने वाला एक बड़ा तबक़ा भूमिहीन दलित समुदायों से था। उज़रती मज़दूर के रूप में रूपांतरित होने वाला यह बड़ा समुदाय सामंती शोषण से मुक्त होकर एक हद तक आत्मनिर्भर श्रमिक बन सका था। इस प्रकार वह जागरूक मज़दूर की अवस्था को प्राप्त हो मज़दूर यूनियनों का हिस्सा बन परिवर्तन की दिशा में अग्रसर था। यद्यपि यहां भी बड़े बड़े अनियोजित बेतरतीब आवासीय परिसरों में मूलभूत जनसुविधाओं से वंचित रहकर जैसे-तैसे जीवन बसर कर रहा था। कोरोना पर क़ाबू पाने वाली राज्यसत्ता की अकुशल कोशिश ने एक झटके में उनसे वे काम-धंधे छीन लिये जिन्हें करते हुए किसी तरह अपनी ज़िंदगी की गाड़ी को खींच रहे थे। इस परिवेश में उन्हें गांव के दमघोटू सामंती वातावरण से एक हद तक सुकून तो था। कोरोना से बचाव के कुप्रबंधन से यह दलित मज़दूर फिर से उस अमानवीय स्थिति में जाकर फंसने को बाध्य हुआ है। इसी सामंती जकड़न से मुक्त हो गांव के दक्खिनी टोलों की सीमा से आज़ाद था।

दिल्ली सहित हिंदुस्तान के तमाम नगरों और महानगरों की संभ्रांत आवासीय कालोनियों को छोड़ कर शेष अनियोजित आवासीय क्षेत्रों में रहने वाले तबक़े का एक बड़ा हिस्सा दलित कही जाने वाली जातियों से आता है। इस संदर्भ में हम यों ही उन्हें ज़बरन जातीय पहचान नहीं दे रहे हैं, बल्कि अपने स्वरूप में ही यह तबक़ा लगभग उन्हीं कार्यों को करने की स्थितियों में फंसा हुआ है जो परंपरा से उसके पुरखे करते थे। इसलिए पुरखों द्वारा झेले जाने वाले अपमान और भेदभाव बराबर इनके हिस्से की चीज़ बने हुए हैं। यह अतीत में अपने भूस्वामी, सेठ जी और पंडितजी की सेवा करते हुए किसी तरह जीवनयापन करता था। अपने सामाजिक स्तर के अनुसार अपना जीवन खींचते हुए, मुंशी प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी, 'सदगति' के किरदार दुखी की तरह सदगति को प्राप्त होता है। दुखी की यह मृत्यु, दरअसल, पीड़ादायी श्रम की चक्की में पिसते दलित की दारुण दशा का मर्मभेदी चित्रण है। यही वर्ग, दुखी जिसका प्रतिनिधि पात्र है, नगरीकरण की प्रक्रिया में आकर अनियोजित आवासीय बस्तियों में मूलभूत नागरिक सुविधाओं से महरूम रहकर उन्हीं कार्यों में जकड़ा है जिन्हें उसके ग्राम्य पुरखे करने की स्थितियों में मौजूद रहते हुए त्रासद मृत्यु का शिकार होते थे। आज इन्हीं में से असंख्य 'दुखी' गटर की सफ़ाई करने की प्रक्रिया में 'सद्गति' को प्राप्त होते हैं।

आज के कोरोना काल में ये फ्रंटलाइन वारियर की क़तार में तो किसी तरह सम्मिलित हैं जो जान जोख़िम में डालकर अपने 'आध्यात्मिक सुख' को हासिल करते हैं। जी हां, इसी फ्रेज़ का प्रयोग किया था माननीय प्रधानमंत्री ने अपनी पुस्तक में! यानी घृणित और जोख़िमभरे कार्य से मुक्त करने की बजाय उन्हें महिमामंडित करके उन्हीं में फंसे रहने का पक्का बंदोबस्त करना। प्रधानमंत्री द्वारा बनारस में कुंभ के समय सफ़ाईकर्मियों के पैर धोने का ड्रामा भी उसी समझ के तहत किया गया था। आज भी ये सफ़ाई सैनिक इन कार्यों को देने वाले कार्य को पूरी तन्मयता से करने में व्यस्त हैं और बदस्तूर सदगति को प्राप्त होते रहते हैं। किंतु, किसी अमित राणा या अन्य उच्चजातीय सरकारी कर्मी की तरह वीरगति को प्राप्त होकर एक करोड़ की राशि अपने पीछे छूटे परिवार को दिलवाने वाली सूची में शामिल होने से वंचित रहते हैं। इस प्रकार समता के तमाम उसूलों को धता बताते हुए उन्हें जातिवाद की भेंट चढ़ा दिया जाता है। सत्ता के वर्गीय और जातिवादी चरित्र की यह एक बानगी भर है।

एक अन्य प्रसंग जिसका ज़िक्र करना ज़रूरी है। कोरंटाइन केंद्रों में या रात्रि आवास केंद्रों में तथाकथित

उच्चजाति के मज़दूरों में दलित मज़दूरों के प्रति अस्पृश्यता के व्यवहार की अनेक घटनाएं सामने आयीं। यह वर्ग के अंदर पड़ी जाति की फांस ही है जो मुसीबत के समय भी उनमें एकजुटता क़ायम करने में बाधा उत्पन्न करती है। इसके साथ ही सामूहिक भोजनालयों में काम करने वाले स्त्री या पुरुष की दलित पृष्ठभूमि के चलते खाना खाने से इंकार कर देने की घटनाएं भी देखने में आयीं। यह घटना हमें ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी, 'ख़ानाबदोश' के ब्राह्मण मज़दूर महेश की याद ताज़ा करा जाती है जो 'मानो' के हाथ की रोटी खाने से इसलिए मना कर देता है क्योंकि 'मानो' दलित है जबकि महेश भी भट्टा मालिक के शोषण का उतना ही शिकार है जितना कि मानो और सुखिया दलित!

उक्त घटनाएं अख़बारों और टेलिविज़न के ज़रिये प्रकाश में आने वाली कुछ घटनाओं के आधार पर कह रहे हैं। इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि भारतीय समाज में मज़दूर के अंदर जाति विभेद किस क़दर व्याप्त है! इसी प्रकार न जाने कितने ही प्रसंगों में दलित कहे जाने वाले नागरिकों को स्वयं अपनी नागरिकता संदेहास्पद लगती होगी। जातिभेद की उपस्थिति से इंकार करने वाले भद्रजन के लिए भी ये आंख खोल देने वाली घटनाएं हैं।

यातायात के सार्वजनिक साधनों के बंद होने पर दलित पृष्ठभूमि के मज़दूरों ने कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ा होगा इस का अनुमान उस तथ्य से लगाया जा सकता है कि एक पंद्रह वर्षीया बालिका अपने घायल पिता को साइकिल पर बैठा कर हरियाणा से बिहार तक की लंबी यात्रा करती है। यात्रा पूरी होने पर समाचारों और सोशल मीडिया में वायरल होने पर यह घटना प्रशंसनीय हो जाती है जबकि जातीय पृष्ठभूमि की वजह से भी उसने और उसके पिता को किन-किन जातिगत भेदभावों का सामना करना पड़ा होगा!

दलित मज़दूर शहरी संभ्रांत को अनिवार्य सेवाएं देकर बदले में बेहद मामूली कमाई पाता रहा। ये सेवाएं पाकर ही यह भद्र जन अपने ऐशो आराम का साजोसामान और सेवाएं इनके सस्ते श्रम की बदौलत पाता रहा। और जब तब उन्हें उनकी मानवीय गरिमा को ठेस भी पहुंचाता रहा। वर्षों से इन बेशक़ीमती सेवाओं को सस्ते मूल्य में देकर स्वयं किसी तरह गुज़र-बसर करने वाले इस श्रमजीवी तबक़े को कोरोना के चलते काम पर न आने की हिदायत दी गयी। प्रशासन की ओर से सभ्य और शिष्ट मालिक वर्ग को यह औपचारिक निवेदन भी किया गया कि वे अपने इन सेवकों या अधीन काम करने वालों को तालाबंदी के दौरान वेतन देते रहें। अपने वर्ग चरित्र के अनुसार मानवता का झूठा ढोल पीटने वाले इस वर्ग ने उनको उनके हाल पर छोड़ दिया। किसी तरह क्षुधा राहत केंद्रों की अनुकंपा पर जीवन यापन किया। लेकिन खाने के अलावा अन्य ज़रूरतों को पूरा होते न देख इस तबक़े ने अपने उसी गांव की राह पकड़ी जिसकी जकड़न से आज़ाद होकर शहर आया था। फिर शुरू हुआ परेशानियों, ज़लालत और उत्पीड़न का अंतहीन सिलसिला। इसे पार करने वाली असंख्य तस्वीरें द्रवित करने वाली हैं जिन्हें शब्दों में बांधना मुश्किल ही नहीं, इस विषय पर लिखने वाले मुझ जैसे व्यक्ति के लिए नामुमकिन है।

मो0 9354001242

कोरोना काल : तबाही के मंज़र-5

विषैली पितृसत्ता

सफ़ूरा ज़रगर, श्रमजीवी महिलाएं और 'बॉयज़ लॉकर रूम'

भाषा सिंह

सिमोन द बुआ ने अपनी बेहद चर्चित किताब, द *सेकेंड सेक्स* में लिखा था कि औ़रत पैदा नहीं होती बनायी जाती है। अपनी इस बात को उन्होंने ऐतिहासिक विकासक्रम के साथ विस्तार में स्थापित भी किया था। उनका यह कथन बहुचर्चित है, इसे ख़ूब कोट किया गया और इससे पितृसत्तात्मक समाज को समझने का एक ऐसा लेंस मिलता है जो बेहद कारगर और अचूक होता है।

तमाम यौन अपराधों, यौन हिंसा और यौन आक्रमण को एक कड़ी में रखकर देखने और समझने का नज़रिया मिलता है। 'बॉयज़ लॉकर रूम' से लेकर दिल्ली की एक्टिविस्ट गर्भवती सफ़ूरा ज़रगर की गिरफ़्तारी के समय से उन पर जिस तरह अश्लील-कुत्सित टिप्पणियां की गयीं। उन सब के पीछे की सोच एक ही है— दक्षिणपंथी पितृसत्तात्मक सोच, जो *मनुस्मृति* से अपनी वैचारिक ऊर्जा हासिल करती है। आज (23-06-2020) सफ़ूरा ज़रगर को जब ज़मानत मिली, तो यकबयक मुझे सफ़ूरा के ऊपर की गयी वे सारी घिनौनी टिप्पणियां याद आ गयीं, जो उनके चरित्र हनन के मक़सद से की गयी थीं। सफ़ूरा ज़रगर और उनके पेट में पलने वाले बच्चे तथा उनके पति के ऊपर जो गाली-गलौच की गयी, उसकी एक बड़ी वजह उनका औरत होना, औरत होकर सरकार की ग़लत नीतियों का विरोध करना व मुसलमान औरत होना था। सफ़ूरा के जेल से बाहर आने पर सुकून ज़रूर महसूस किया जा सकता है, लेकिन जिस तरह से एकतरफ़ा हमला उन पर हुआ और उसने बेलगाम महिला विरोधी सोच के नुकीले गिरफ़्त का अहसास कराया, वह बहुत चिंताजनक है।

वर्ष 2019-20 के तीन-चार महीने नागरिकता संशोधन क़ानून के ख़िलाफ़ चले ऐतिहासिक आंदोलन के नाम रहे। इसकी कमान औरतों और ख़ासतौर से मुस्लिम औरतों ने संभाली और देश भर में इस विभेदकारी क़ानून के ख़िलाफ़ गुस्से को आकार दिया। चूंकि इस आंदोलन का नेतृत्वकारी चेहरा औरतों का था, लिहाज़ उनके प्रति नफ़रत भी जमकर संचालित की गयी। इसके बाद दिल्ली जली, 50 से अधिक लोगों की मौत देश की राजधानी दिल्ली में हुई। इसका ज़िम्मेदार नागरिकता संशोधन क़ानून के ख़िलाफ़ चल रहे आंदोलन को बताने पर दिल्ली पुलिस आमादा है। चुन-चुन कर इस आंदोलन में शिरकत करने वालों को निशाना बनाया गया। शाहीन बाग़ के साथ -साथ जामिया में यह आंदोलन बहुत तेज़ रहा। जामिया कॉर्डिनेशन कमेटी की मीडिया प्रभारी थीं सफ़ूरा ज़रगर, जो जामिया में पढ़ती हैं। उन्हें दिल्ली हिंसा के मामले में जब आरोपी बनाकर गिरफ़्तार किया गया, तो भाजपा नेता कपिल मिश्रा ने जिस क़दर अभद्र टिप्पणी की, वह बेहद शर्मनाक नज़ीर है। इसके बाद तो मानो गाली देने वालों, चरित्र हनन करने वाले पागल कुत्तों की फ़ौज ही कूद गयी हो। सोशल मीडिया पर उन दिनों किये गये कमेंट देखकर लगता है, मानो इस बात की होड़ लगी थी कि कौन कितना नीचे गिर सकता है। बात-बात में एफ़आईआर करने वाली दिल्ली पुलिस, आईटी सेल द्वारा सार्वजनिक तौर पर एक एक्टिविस्ट के मान-सम्मान से खुलेआम खेलने

और धज्जियां उड़ाने पर ख़ामोश रही। 'पिंजड़ा तोड़' की नताशा नरवाल और देवांगना, को भी नागरिकता संशोधन क़ानून (सीएए) के विरोध में चले आंदोलन की वजह से गिरफ़्तार किया गया। सफ़ूरा को तो इसीलिए निशाने पर लिया गया, क्योंकि वह 'बेस्ट' केस थी मुसलमानों और ख़ासतौर से मुसलमान औरतों को देश भर में 'विलेन' के रूप में स्थापित करने के लिए। इसमें बहुत हद तक सफलता भी उन्हें मिली। यह एक अहम 'टैस्ट' केस है कि किस हद तक देश की राजधानी में मुस्लिम महिला को निशाने पर लेकर तमाम गाली-गलौच खुलेआम देने वालों का बाल भी बांका नहीं होता। स्त्री का अपमान करने वालों को राजनीतिक वरदहस्त प्राप्त होना नया तो नहीं, लेकिन इतना बेशर्म शायद पहले नहीं रहा।

यही बेशर्मी कोरोना काल और लॉकडॉउन काल में नज़र आयी, इस दौरान सबसे बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियां हुईं, ये सारी राजनीतिक गिरफ्तारियां हैं। इसका केंद्र रही देश की राजधानी दिल्ली और इस दौरान सिविल सोसायटी के उन तमाम चेहरों को निशाने पर लिया गया, जो सरकार के ग़लत क़दमों के ख़िलाफ़ बुलंद आवाज़ उठा रहे थे। कोरोना महामारी के दौरान एक तरफ़ जहां सुप्रीम कोर्ट सहित तमाम संस्थाएं जेलों को ख़ाली करने, क़ैदियों को रिहा करने का सुझाव दे रहे थे, वहीं दिल्ली पुलिस दिल्ली में हुई सांप्रदायिक हिंसा के मामले में लोगों के नाम चार्जशीट में डालकर गिरफ़्तार कर रही थी। इसके लिए ग़ैर कानूनी गतिविधियां (रोकथाम) अधिनियम --यूएपीए जैसे ख़ौफ़नाक क़ानून का इस्तेमाल तो ऐसे किया जा रहा था जैसे यह सबसे साधारण सज़ा का प्रावधान है। इसी क़ानून के अंतर्गत सफ़ूरा ज़रगर सहित बाक़ी लोगों को गिरफ़्तार किया गया।

ठीक इसी समय भारत की ग़रीबी देश के नक्शे पर ऐसे पसर गयी। ऐसे दिल दहलाने वाले नज़ारे दिखायी दिये , जो आज़ाद भारत में हमने कभी नहीं देखे थे। करोड़ों की संख्या में भारतीय मज़दूर शहरों से वापस अपने गांव की ओर निकल पड़े, क्योंकि जिन शहरों को उन्होंने बनाया, वे उन्हें कोरोना कैरियर के रूप में देखने लगे। अधिकांश को काम से निकाल दिया और बिना वेतन छुट्टी दे दी। ज़िंदा रखने का कुछ भी इंतज़ाम नहीं किया। लाखों-लाख लोग ज़िंदा रहने के लिए लॉकडॉउन के ख़िलाफ़ अवज्ञा आंदोलन करते हुए पैदल ही सड़कों पर निकल पड़े। इनमें बड़ी तादाद भारतीय श्रमजीवी महिलाओं की थी। वे छोटे-छोटे बच्चों को कंधें पर टांगे हुए, गोद में टिकाये हुए सैंकड़ों किलोमीटर का सफ़र अपने हौसले पर तय करने निकल पड़ीं। अनगिनत गर्भवती महिलाओं ने सड़कों पर ही बच्चा जना। सड़कों पर पैदा होने वाले ये भारतीय नागरिक विश्व विख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की की कहानी—'एक नये इंसान का जन्म'- को सजीव कर रहे थे, भारतीय मेहनतकश महिलाओं के अदम्य साहस और जीवटता को गुंजा रहे थे। लेकिन इनके प्रति हमारी सरकारों की आपराधिक अनदेखी जस की तस क़ायम थी— सुप्रीम न्यायपालिका ख़ामोश रही और सिस्टम को कोई फ़र्क़ न पड़ा। ये औरतें भारत माता का सजीव रूप थीं, प्रतिरोध को विकट परिस्थितियों में कैसे ज़िंदा रखा जा सकता है—इसका उदाहरण पेश कर रही थीं। उनका दुख राष्ट्रीय चर्चा का मुद्दा नहीं बना। इन महिलाओं और पुरुषों की इस स्थिति का सीधा संबंध शोषण पर टिकी पूंजीवादी व्यवस्था से है। किस तरह से इन प्रवासी मज़दूरों का खून चूस कर बड़े-बड़े उद्योग घराने अकूत मुनाफ़े बटोरते रहे हैं, इस हक़ीक़त को झुठलाया नहीं जा सकता। मगर इस सकंट काल में उन्होंने इन करोड़ों भारतीयों को बचाने के लिए कुछ भी नहीं किया। रोज़गार के अवसर जितने छिने और जितने खत्म होते जा रहे हैं, उसकी सबसे अधिक गाज महिला श्रमिकों पर ही पड़ी है। इस संकटकाल का जो स्त्री पक्ष है, वह पूरी तरह से नदारद है। इसकी वजह है, भारतीय समाज का स्त्री विरोधी नज़रिया। सड़कों पर पैदल-पैदल चलती जीवन के लिए संघर्ष करती भारतीय स्त्री न तो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को उद्वेलित करती है और न ही सफ़ूरा ज़रगर के ख़िलाफ़ विष वमन अभियान से उन्हें दिक्क़त होती है।

दरअसल यह जो स्त्री पर होने वाले अत्याचारों की अनदेखी का मसला है, वह जुड़ा हुआ है हमारे

समाज की बुनियादी बनावट से जो स्त्री-विरोधी है। तभी तो स्त्री विरोधी होना, औरतों पर गाली-गलौच वाली भाषा का इस्तेमाल करना धीरे-धीरे 'न्यू नॉर्मल' होता जा रहा है। अक्सर होता यह है कि हम यौन हिंसा या यौन आक्रमण की घटनाओं को अलग-अलग घटनाओं के रूप में देखते हैं। इसकी वजह से एक वृहद तस्वीर और सोच का अभाव सा दिखता है। इसमें भी हम कभी एक घटना पर ज़्यादा उद्वेलित होते हैं और वहीं दूसरी घटना पर कम। इसके पीछे जाति और धर्म का भेद काम करता है और शहर तथा ग्रामीण क्षेत्र को लेकर हमारा दुराग्रह भी। मिसाल के तौर पर अगर बलात्कार शहर में होता है, तो मीडिया सहित तमाम सिविल सोसायटी में आक्रोश ज़्यादा होता है और अगर लड़की उच्च जाति, अच्छे घर से ताल्लुक़ रखती हो, तो वेदनाएं ज़्यादा प्रकट होती हैं, वहीं अगर ग्रामीण परिवेश में हो, लड़की दलित या आदिवासी या अल्पसंख्यक समुदाय की हो, तो न सड़कों पर वह आक्रोश दिखायी देता है औऱ न ही वेदना। इस तरह अपराधी का वर्ग और वर्ण भी हमारे गुस्से को बहुत हद तक संचालित करता है।

कई बार ख़ासतौर से यौन हिंसा के मामलों में, विशेषकर बाल-वयस्क अपराधियों का अध्ययन करते समय यह ख़याल आता है कि क्या हमारा समाज इन बच्चों और किशोरों को अपराधी बना रहा है। क्या जिस तरह से हम अपने घर के भीतर, बाहर समाज में और अपनी सोच में, हंसी-मज़ाक़ (चुटकुलों) में, महिला विरोधी सोच को परिलक्षित कर रहे हैं, वह लड़कों को बीमार बना रही है? क्या हमारे घरों में कुंडली मार कर बैठी पितृसत्ता ने सबसे पहला शिकार कम उम्र के लड़कों को बनाया है? उनमें इंसान के गुण डालने से पहले, उन्हें मानवता सिखाने से पहले ही हम उन्हें मर्द बनाने लग जाते हैं। इसमें घर की स्त्री-पुरुष सब शामिल होते हैं। हो सकता है कि इसकी शुरुआत एक मासूम से दिखने वाले वाक्य से हो—'मरद को दर्द नहीं होता, चूडियां पहन रखी हैं, क्या लड़कियों की तरह रोते हो, तुम्हारे हाथ तो बिल्कुल लड़कियों जैसे मुलायम हैं, लड़कियों की तरह घर-घुस्सू हो, हर समय किचन में क्यों जाते हो— खाना ही बनाओगे क्या---।' इस तरह के अनगिनत डॉयलॉग कमोबेश हम लोगों के अधिकांश घरों में लड़कों से बोले जाते हैं। ये जो डॉयलॉग मासूम से जान पड़ते हैं, ये दरअसल बेहद गहरी पितृसत्ता पर टिकी सोच से उपजते हैं। ये तय करते हैं एक पुरुष के बारे में अवधारणा। विषैली (toxic) मर्दानगी का लेप लड़के के मासूम कच्चे मन पर लगाना शुरू कर देते हैं। सिर्फ़ घर ही नहीं आसपास का माहौल, हमारा समाज सब मिलकर लड़कों को हिंसक और उग्र मर्द में तब्दील करते हैं।

बाद में निश्चित तौर पर आक्रामक सेक्सुएलिटी में घर के मर्दों की (जाने-अनजाने) छत्रछाया में विषैली बेल बनती है। हालांकि इंटरनेट-पोर्नोग्राफ़ी और भोग और मस्ती को जीवन सिद्धांत मानने वाली जीवनशैली कब 11-12 साल के बाल मन को स्त्री हिंसा के बर्बर दृश्यों को एंज्यॉय करने वाली आपराधिक मन:स्थिति में पहुंचा देती है—इसका पता अक्सर माता-पिता या बाक़ी परिजनों को भी नहीं चल पाता। मैंने ऐसे बहुत से लोगों के इंटरव्यू लिये हैं, जो यौन हिंसा में लिप्त बाबाओं या धार्मिक गुरुओं की भक्ति में लिप्त रहते हैं। जब उनसे मैंने यह जानना चाहा कि क्या वे चाहते हैं कि उनके बेटे भी फलां बाबा या गुरु की तरह से बनें, तो वे बहुत आक्रामक मुद्रा में आकर जवाब देते। दिलचस्प बात यह कि इनमें से किसी का भी जवाब सीधा नहीं होता। जबकि मुझे लगता था कि वे सीधे चिल्लाकर कहेंगे— बिल्कुल भी नहीं, ऐसे बाबाओं की शरण में उनके बच्चे कभी नहीं जायेंगे। इससे अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि महिलाओं पर अपराध करने वालों के प्रति हमारे दिल में उतनी नफ़रत नहीं पनपती, अगर वह धर्म का चोला पहने होता है। यही कारण है कि हम अपने घरों में बच्चों के सामने जो आदर्श रखते हैं— वे इस तरह से भी सीखते हैं कि चूंकि ये लोग आध्यात्मिक हैं, लिहाज़ इन्हें छूट मिली हुई हैं। हमारे समाज में आसाराम बाबू, नित्यानंद या डेरा सच्चा वाले गुरमीत रामरहीम के भक्तों को इसी तर्क के साथ समझा जा सकता है। निश्चित तौर पर इस श्रेणी में तमाम धर्मों के गुरु या स्वयंभू आते हैं। स्त्री पर यौन हिंसा करने वालों में

बाबाओं-साधु-संन्यासियों-मौलवियों-पादरियों की फ़ेहरिस्त बहुत बड़ी है। यहां जो ख़ास बात समझना ज़रूरी है कि इन तमाम आरोपी-अपराधी धार्मिक गुरुओं की राजनीतिक पहुंच-पूछ बहुत रही है। अधिकांश के यहां राज्य स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर के नेता शीश नवाते रहे हैं। इससे समाज में उन्हें जो स्वीकार्यता मिलती है, वह इनके स्त्री विरोधी स्वरूप को ढंक लेती है। और, ये कुकृत्य उजागर होने के बाद भी उनकी छवि पर बहुत बड़ा बट्टा नहीं लगता है—क्योंकि राजनीति और अर्थसत्ता साथ खड़ी रही है। राजनीतिक पटल पर यह नयी परिघटना नहीं है, लेकिन हाल के सालों में इसका प्रचार-प्रसार बहुत अधिक बेशर्मी से हो रहा है। इसका ताज़ा उदाहरण उत्तर प्रदेश में तब देखने को मिला जब भाजपा के राज्य में पूर्व मंत्री स्वामी चिन्मयानंद के ऊपर यौन उत्पीड़न का आरोप उनके कॉलेज में पढ़ने वाली एक छात्रा ने लगाया। इसके साथ में स्टिंग ऑपरेशन करके वीडियो भी जारी किया। इस पूरे मामले का सबसे दुखद पहलू यह है कि चिन्मयानंद के समर्थन में 'जय श्रीराम' का नारा लगाने वालों की संख्या लगातार बढ़ती गयी और सारा दोष आरोप लगाने वाली लड़की पर थोपा गया। चिन्मयानंद का राजनीतिक सामाजिक क़द जस का तस बरक़रार रहा।

आइए, अब इस पृष्ठभूमि में 'बॉयज़ लॉकर रूम' से लेकर एक्टिविस्ट सफ़ूरा ज़रगर के बीच पसरी गंधाती पितृसत्तात्मक सोच के विस्तार को समझते हैं। यह कड़ी न तो 'बॉयज़ लॉकर रूम' वाले प्रकरण से शुरू होती है और नहीं सफ़ूरा ज़रगर तक ख़त्म होती है। यह लगातार बढ़ती ही जा रही है और इसका चेहरा दिनों-दिन और ज़्यादा ख़ौफ़नाक होता जा रहा है। 'बॉयज़ लॉकर रूम' एक ऐसी घटना है जिसने यह उघाड़कर रख दिया कि घरों की चारदिवारी में कितनी कम उम्र के लड़कों में बलात्कारी सोच पनपने लगती है। और किस ख़तरनाक ढंग से 14 से 18-19 साल के लड़के बलात्कार—सामूहिक बलात्कार करने की योजना समूह में बनाने लगते हैं—करने लगते हैं। यह घटना देश की राजधानी दिल्ली में सामने आयी, जिसमें इंस्टाग्राम (सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म) पर 14 से 18-19 साल के लड़कों ने अपना एक ग्रुप बनाया- 'बॉयज़ लॉकर रूम' नाम से, जिसमें शुरू में कुछ साथ पढ़ने वाली लड़कियां भी थीं। इसमें वे अश्लील बातें करते, लड़कियों को ब्लैकमेल करने की योजना बनाते. अधिकतर साथ पढ़ने वाली लड़कियों के शरीर पर भीषण आपत्तिजनक भाषा में कमेंट करते, बलात्कार करने, सामूहिक बलात्कार करने की योजना बनाते, और भी न जाने कैसे-कैसे यौन अपराध...। इतने डराने वाले ब्यौरे हैं कि पढ़ कर उनकी बलात्कारी मानसिकता, बलात्कार को एन्जॉय करने वाली उनकी मानसिकता का अट्टहास सुनायी देता है। यह पढ़कर लगता है कि किस सुरक्षित परिवेश में यह बलात्कारी सोच पल्लवित-पुष्पित होती है। यह सवाल ज़हन में गूंजता है कि क्या हर लड़का इसी बलात्कारी वायरस का शिकार है या इस वायरस का पीड़ित। समूह में शामिल कुछ लड़कियों ने जब ये चैट पब्लिक किया, तो हंगामा मच गया। जो परदे के पीछे का कुत्सित दिमाग़ था-अवयस्क लड़कों का, वह सब बाहर आने लगा। अब यहां इस मोड़ पर इनकी आपराधिक सोच और ज़्यादा उजागर होती है। जैसे ही, इस समूह की चैट (बातचीत) लड़कियों ने सोशल मीडिया पर डाली, इन लड़कों ने तुरंत एक दूसरा ग्रुप बनाया औऱ वहां इन लड़कियों के बारे में घिनौनी बातें करने लगे। उन्हें ब्लैकमेल करने, उनका सामूहिक बलात्कार तक करने की योजना बनाने लगे। यह भी पकड़ में आया। कहने की ज़रूरत नहीं है कि ये सारे लड़के दिल्ली के खाते -पीते मध्यम वर्ग-उच्च मध्यम वर्ग से ताल्लुक़ रखते हैं औऱ दिल्ली के नामचीन प्राइवेट स्कूलों में पढ़ते हैं। सोशल मीडिया पर इस घटना के बाद एक अभियान यह भी चला कि ये लड़कियां भी कितनी दोषी हैं—उन पर ज़बर्दस्त हमला बोला गया। लेकिन ये लड़कियां डरीं नहीं, पीछे नहीं हटीं। अंग्रेजी में जिसे कहते हैं पिंडोरा बॉक्स खुल जाना ---बंद डिब्बे से कीड़ों का बाहर निकल आना—कमोबेश हमारे घरों और समाज में पनपती, संरक्षण पाती पितृसत्ता का ख़ौफ़नाक चेहरा हमारे सामने बेनक़ाब हुआ। हालांकि इस पूरे मामले को बहुत जल्द रफ़ा-दफ़ा कर दिया गया, जबकि चैट से यह तक आशंका हो रही थी कि इनमें से कुछ लड़कों ने यौन हिंसा भी की थी।

अब यहां सवाल यह उठता है कि क्या ये जो लड़के हैं और इनका बलात्कार तथा यौन अपराध से दिमाग़ अटा पड़ा है—यह कैसे हुआ। यह सब तो वे मां के गर्भ से सीखकर आये नहीं। यह सब इन्होंने सीखा हमारे घरों से, हमारे समाज से और स्कूल-कॉलेजों से। पूरा का पूरा परिवेश ही दूषित है- स्त्री विरोधी सोच पर टिका हुआ। लिहाज़ हमने अपनी अगली पीढ़ी को स्त्री-विरोधी सोच के दलदल में ढकेल दिया है और उन्हें बलात्कारी-वर्चुअल बलात्कारी और यौन हिंसा को एन्जॉय करने वाला बना दिया है। इसे ही हम विषैली (toxic) पुरुष सत्ता के रूप में अपने चारों-तरफ़ देखते हैं। राजनीतिक पटल पर इसकी पराकाष्ठा कभी 56 इंच की छाती के रूप में होती है, तो कभी नीतिगत क्षेत्र में स्वच्छ भारत अभियान में औरतों को सुरक्षित रखने, घर की इज्ज़त को बचाने के नाम पर शौचालय के प्रचार अभियान में देखी जा सकती है। 'बॉयज़ लॉकर रूम' एक ख़तरे की घंटी है, जो हमें बस यह समझा रही है कि घर से लेकर बाहर तक बलात्कारी संस्कृति का इतना वर्चस्व हो गया है कि अगली पीढ़ी के लिए हमने विसंगतियों-यौन कुंठाओं और यौन अपराध का पूरा दलदल तैयार कर रखा है।

कहने की ज़रूरत नहीं, यह स्थिति हम औरतों के लिए ही ख़तरनाक नहीं है, पुरुषों के लिए ज़्यादा विस्फोटक है क्योंकि वे इनसान बनने और मानवीयता के साथ व्यवहार करने लायक़ नहीं रह जाते हैं। बलात्कारी संस्कृति का शिकार हो जाते हैं, अपराधी मानसिकता के शिकार और विषैली मर्दानगी के क़ैदी।

मो0 9818755922

कोरोना काल : तबाही के मंज़र-6

कोविड 19 : पत्रकारिता से क्यों ग़ायब हैं सवाल

प्रमोद रंजन

फ़रवरी, 2020 तक भारतीय अख़बारों में दुनिया में एक नये वायरस के फैलने की सूचना प्रमुखता से आने लगी थी। तब से लेकर अब तक बहुत कुछ बदल चुका है। उस समय हम मज़ाक-मज़ाक में कहा करते थे कि शायद आने वाले समय में हाथ न मिलाकर, एक दूसरे को नमस्कार करना होगा। कौन जानता था कि जल्दी ही वह दिन आने वाला है, जब ऐसे नियम बना दिये जायेंगे, जिसमें मास्क नहीं पहनने पर दंडित किये जाने का प्रावधान होगा! उस समय तक कार्यालय में उपस्थिति के लिए बायोमैट्रिक्स पंच मशीन लगाये जाने का जिक्र आने पर हम इसके औचित्य और दुष्परिणामों पर चर्चा किया करते थे। उस समय कौन जानता था कि मोबाइल-फ़ोन में एक जासूस-एप रखना आवश्यक कर दिया जायेगा और, बायोमैट्रिक्स मशीन तो कौन कहे, हम हर प्रकार के सर्विलांस के लिए राज़ी हो जायेंगे।

आज अनेक शहरों में चेहरे की पहचान करने वाले कैमरे सड़कों पर लगा दिये गये हैं, नागरिकों पर निगरानी रखने के लिए कैमरे लगे ड्रोनों का इस्तेमाल किया जा रहा है। लेकिन इन सब के दूरगामी प्रभावों के बारे में कोई सवाल नहीं उठ रहा है। कथित महामारी से निपटने के लिए मनुष्योचित अधिकारों का हनन किया जा रहा है लेकिन इस संबंध में भी कोई सवाल उठाने वाला नहीं है। हालत यह है कि जितना हमें बताया जा रहा है, उससे अधिक छुपाया जा रहा है।

कुछ उदाहरण देखें।

अख़बारों ने हमें बताया कि कोविड-19 सबसे अधिक जानलेवा है। लेकिन यह नहीं बताया कि हमारी हिंदी पट्टी में टी.बी, चमकी बुख़ार, न्यूमोनिया, मलेरिया आदि से मरने वालों की एक विशाल संख्या है। इन बीमारियों से सिर्फ़ हिंदी पट्टी में हर साल 5 से 7 लाख लोग मरते हैं।

हमें बताया गया कि यह ख़तरनाक है, क्योंकि यह 'वायरस' से होता है और ला-इलाज है। लेकिन यह नहीं बताया गया कि हिंदी पट्टी के सैकड़ों ग़रीब बच्चों को मारने वाला चमकी बुख़ार (एक्यूट इंसेफ़ेलाइटिस सिंड्रोम) एवं जापानी इंसेफ़ेलाइटिस भी वायरस से होता है और वह भी आज तक ला-इलाज है। चमकी बुख़ार इतना ख़तरनाक और रहस्मयी बीमारी है कि अभी तक इसके सही-सही वजह का पता नहीं लगाया जा सका है। यह हिंदी पट्टी में हर साल 01 से 15 वर्ष के उम्र के हज़ारों बच्चों को अपना शिकार बनाता है, जिनमें से सैकड़ों की चंद दिनों में ही मौत हो जाती है।

कोविड-19 की अधिकतम मृत्यु दर (CFR) 'ज़्यादा से ज़्यादा 3 प्रतिशत' बतायी गयी, और हमें दुनिया के सबसे क्रूर लॉकडाउन में डाल दिया गया। जबकि ऊपर बताये गये बुख़ारों में मृत्यु दर 30 प्रतिशत तक है। हमारे समाचार-माध्यमों से यह सवाल ग़ायब रहा कि इन बीमारियों को क्यों गंभीरता से नहीं लिया जाता? क्या इसलिए कि इनसे मरने वाले लगभग सभी दलित, पिछड़े और ग़रीब होते हैं, या इसलिए कि इनमें दवा कंपनियों के लिए पैसा बनाने का मौक़ा बहुत कम है?

भारत में हर साल टी.बी. से लगभग 4.5 लाख लोगों की मौत होती है, हर साल मलेरिया से लगभग 2 लाख लोग मरते हैं, जिनमें ज़्यादातर युवा आदिवासी होते हैं। भारत में हर साल एक लाख से अधिक बच्चे डायरिया से मर जाते हैं। इन आंकड़ों को यदि प्रतिदिन के हिसाब से विभाजित करके देखें तो भारत में हर रोज़ 1300 लोग टी.बी. से मरते हैं जबकि 350 बच्चे निमोनिया से हलाक़ हो जाते हैं।

इस संबंध में जर्मनी में शोधरत मेरे एक मित्र रेयाज़-उल-हक़ ने एक मेल में जो लिखा है, उसे यहां दे देना प्रासंगिक होगा। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'ग़रीब देशों में होने वाली इन बीमारियों की विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि द्वारा की जाने वाली उपेक्षा की वजह यह है कि पश्चिमी देशों ने इन बीमारियों और उनकी वजहों पर कमोबेश क़ाबू पा लिया है। साफ़ पानी की आपूर्ति, पोषण, पर्याप्त भोजन और स्वस्थ्य जीवन शैली, मज़बूत स्वास्थ्य सेवाएं और इलाज की सुविधा से युक्त ये देश अब हैज़ा, टी.बी. आदि से परेशान नहीं होते। मलेरिया और यहां तक कि एड्स भी अब कोई बड़ी मुश्किल नहीं है इन देशों के लिए। लेकिन वे उन बीमारियों से डरते हैं जिन पर इनकी कोई पकड़ नहीं है। इसलिए ये संक्रामक सार्स और कोरोना से डर जाते हैं, क्योंकि अभी इनके पास उसका कोई उपाय नहीं है। चूंकि इन पश्चिमी देशों का दुनिया में दबदबा है, इनकी प्राथमिकताएं सब लोगों की प्राथमिकताएं बन जाती हैं। इसलिए अब कोरोना सबके लिए ख़तरा है। एक बार इसका टीका और इलाज इनको मिल जाने दीजिए, फिर कोरोना से कौन मरता और जीता है दुनिया में, इनको इसकी कोई परवाह भी नहीं होगी। ...आज यह यूरोप और अमेरिका की बीमारी है। जब तक यह चीन तक सीमित थी, इनको इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ रहा था।'

लेकिन भारतीय मीडिया ने यह सवाल नहीं उठाया कि इन यूरोपीय देशों की समस्याओं को आपने हमारे सिर पर क्यों थोप दिया? मीडिया यह सवाल भी नहीं उठा रहा कि रोगों के उपचार की जगह कोविड-19 के मरीज़ों की गिनती पर इतना बल क्यों है?

हमे नहीं बताया जा रहा कि इंडियन काउंसिल ऑफ़ मेडिकल रिसर्च (आई.सी.एम.आर.) का मनुष्य को गुलामी के बंधनों में जकड़ने वाली तकनीक को बढ़ावा देने वाले, वैक्सीन और दवा कंपनियों के सहयोगी बिल एंड मिलिंडा गेट्स फ़ाउंडेशन से क्या रिश्ता है?

आई.सी.एम.आर. को बिल एंड मिलिंडा गेट्स फ़ाउंडेशन से अकूत धन अनुदान के रूप में प्राप्त होता है, जिसमें वैज्ञानिकों के सभा-सेमिनार और ग्लोबल यात्रा-आवास आदि का व्यय भी शामिल रहता है। गेट्स फ़ाउंडेशन की वेबसाइटों पर आईसीएमआर को मिलने वाले इस दान का ब्योरा देखा जा सकता है।

अस्पतालों में बेड ख़ाली पड़े हैं। मरीज़ों को भर्ती करने से इंकार करने की सूचनाएं हमें सोशल मीडिया पर मित्र-परिचितों से लगातार मिल रही हैं। किसी भी अन्य बीमारी की तरह कोरोना वायरस का संक्रमण भी पहले से ही गंभीर रोगों से पीड़ित व्यक्ति के लिए ही जानलेवा हो सकता है। स्वास्थ सुविधाओं को ठप कर दिये जाने के कारण गंभीर रोगों से पीड़ित जिन लोगों को कोरोना का संक्रमण हो रहा है, उन्हें दर-दर भटकना पड़ रहा है।

हम देख सकते हैं कि अधिकांश मामलों में इन्हीं कारणों से मरीज़ों की मौत हो रही है। लेकिन हमारे अख़बारों, टीवी चैनलों और पत्रिकाओं में कहीं यह सवाल नहीं है कि यह प्रशासनिक लापरवाही के कारण हुई हत्या है या कथित महामारी से हुई मौत?

लॉकडाउन में यातायात के साधनों पर पाबंदी लगा दिये जाने के कारण लाखों मज़दूरों को अपने परिवार समेत सैकड़ों किलोमीटर पैदल चलना पड़ा, जिससे सैकड़ों मज़दूरों की मौत हो गयी। हमारे मीडिया संस्थान सरकार से नहीं पूछ रहे कि भारत जैसे ग़रीबों की विशाल जनसंख्या वाले देश में, जहां अधिकांश लोग रोज़ की रोटी कमा कर खाते हैं, वहां लॉकडाउन का मतलब क्या होगा, अगर आपको यह पता नहीं था, तो आपके निर्देशों के सही साबित होने की क्या गारंटी है?

स्वीडन, जापान, तंज़ानिया, बेलारूस, निकारागुआ, यमन आदि देशों ने या तो बिल्कुल लॉकडाउन नहीं किया, या फिर ऐसे नियम बनाये, जिनसे नागरिकों की स्वतंत्रता कम से कम बाधित हो। वहां कोरोना वायरस के संक्रमण के, लॉकडाउन वाले देशों की तुलना में अधिक फैलने के कोई प्रमाण नहीं हैं। भारत इस राह पर क्यों नहीं चला?

कहीं भी यह सवाल नहीं उठ रहा कि क्या यह वायरस निशाचर है, जो आपने इन दिनों रात का कर्फ़्यू लगा रखा है? इसका वैज्ञानिक आधार क्या है? आप क्यों भय को बरक़रार रखना चाहते हैं? कहीं इसका कारण यह तो नहीं है कि सरकार कोविड-19 का भय बनाये रखना चाहती है, ताकि देश में महामारी से संबंधित आपातकालीन क़ानून लागू रहे और वह इसकी आड़ में अपनी मनमानी जारी रख सकें? कहीं ऐसा तो नहीं है कि अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप इस महामारी को इसलिए कम करके दिखाना चाहते हैं क्योंकि वहां कुछ ही महीनों में चुनाव होने हैं और भारत के प्रधानमंत्री इस बीमारी को इसलिए बढ़ाकर दिखाना चाहते हैं क्योंकि यहां चुनाव में अभी चार साल बाक़ी हैं?

ऐसे सैंकड़ों सवाल सिरे से ग़ायब हैं।

कैसे ग़ायब हुए सवाल?

इन सवालों का ग़ायब होना अनायास नहीं है। न ही इसके कारण सिर्फ़ मनोगत हैं। बल्कि इसमें कई तत्वों की भूमिका है।

कोविड-19 के इस दौर में सरकारों ने सूचनाओं पर जो प्रतिबंध लगाये हैं, वे एक तरफ़ हैं। अपेक्षाकृत बहुत बड़ा ख़तरा उस तकनीक से है, जिस पर बिग टेक और गाफ़ा (गूगल, फ़ेसबुक, ट्वीटर, अमेज़न आदि) के नाम से जाने जानी वाली कुछ कंपनियों का क़ब्ज़ा है। बिग टेक द्वारा शुरू की गयी यह सेंसरशिप अब तक सरकारों द्वारा लगायी जाने वाली सेंसरशिप से कई गुणा अधिक व्यापक और मज़बूत है। इन कंपनियों की एकाधिकारवादी नीतियों की सफलता और सरकारों की तेज़ी से बढ़ रही निरंकुशता के बीच का रिश्ता भी साफ़ तौर पर देखा जा सकता है।

पहले हम सरकारों की निरंकुशता के कुछ उदाहरण देखें।

भारत में कई राज्यों की पुलिस ने कहा है कि 'ऐसा कोई भी व्यक्ति जो कोविड-19 वायरस को फैलने से रोकने के लिए सरकारी मशीनरी द्वारा किये जा रहे काम करने के तरीक़ों पर संदेह प्रकट करेगा, उस पर कार्रवाई की जायेगी।' (देखें, ग्रेटर मुंबई पुलिस की आदेश संख्या : CP/XI (06)/Prohibitory order, 23 May, 2020)।

इसी प्रकार, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (IIT) खड़गपुर ने अपने संकाय सदस्यों को कहा है कि ऐसे किसी विषय पर न लिखें, न बोलें, जिसमें सरकार की किसी भी मौजूदा नीति या कार्रवाई की प्रतिकूल आलोचना होती हो। संस्थान ने अपने अध्यापकों को यह छूट दी है कि वे 'विशुद्ध' वैज्ञानिक, साहित्यिक या कलापरक लेखन कर सकते हैं लेकिन उन्हें इस प्रकार का लेखन करते हुए यह ध्यान रखना है कि उनका लेखन किसी भी प्रकार से 'प्रशासनिक मामलों को नहीं छुए।'

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान दुनिया के उन प्रमुख संस्थानों में शुमार हैं, जिसके अध्यापकों को विज्ञान विषयक विशेषज्ञता के लिए जाना जाता है।

भारत समेत, दुनिया के कई देशों में इन दिनों ऐसे प्रतिबंध लगे हुए हैं, जो आम लोगों के अनुभव-जन्य ज्ञान और विवेक को ही नहीं, कथित विशेषज्ञों (मसलन, आईआईटी के उपरोक्त अध्यापकों) को भी सवाल उठाने से रोक रहे हैं। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि किसके पक्ष के विज्ञान, किसके पक्ष की विशेषज्ञता, किसके पक्ष की

पत्रकारिता को रोका जा रहा है? ईश्वर और धर्म की ही तरह विज्ञान और विशेषज्ञता की निष्पक्षता पर सिर्फ़ वही भरोसा कर सकते हैं, जो उससे लाभान्वित हो रहे हों।

उपरोक्त प्रसंग सिर्फ़ बानगी के लिए हैं।

भारत पहले से ही प्रेस-फ्रीडम के सूचकांक पर बहुत नीचे रहा है। दुनिया के कुल 180 देशों में इसका स्थान 142वां है। कोविड-19 के दौरान यहां पत्रकारों को सरकारी अमले की नीतियों पर सवाल उठाने तथा कथित तौर पर फ़ाल्स न्यूज़ फैलाने के आरोप में प्रताड़ित किया जा रहा है। अकेले उत्तर प्रदेश में अब तक 55 पत्रकारों पर इस आरोप में मुक़दमा दर्ज किया गया है।

लेकिन इन दिनों सिर्फ़ भारत में ही नहीं, बल्कि दुनिया के अधिकांश समाचार-माध्यम, जिनमें प्रमुख अख़बार, टीवी चैनल, वेबसाइटें, सोशल-मीडिया प्लेटफ़ॉर्म आदि शामिल हैं; जनता के सवालों के उत्तर के लिए कथित विशेषज्ञ संस्था विश्व स्वास्थ संगठन (डब्ल्यू.एच.ओ.) और अमेरिका की 'सेंटर फार डिज़ीज़ कंट्रोल एंड प्रिवेंशन' (सी.डी.सी.) जैसी संस्थाओं की ओर भेज रही हैं। वह भी तब, जबकि ये संस्थाएं ख़ुद ही प्रश्नों के घेरे में रही हैं और इनकी विश्वसनीयता बहुत निचले स्तर की है। इन संस्थाओं पर दवा कंपनियों और परोपकार-व्यवसायियों से साठगांठ, एवं तीसरी दुनिया के देशों पर क़ानूनों का उल्लंघन कर घातक दवाओं और वैकसीनों का ट्रायल करने तथा असफल तकनीकों और दवाओं को इन देशों पर थोपने के आरोप अनेकानेक बार साबित हुए हैं।
इन संस्थाओं के निर्देशों की आड़ में दुनिया के अनेक विकासशील और ग़रीब देशों ने अपने देश में कार्यरत मीडिया संस्थानों के लिए ऐसे नियम बनाये हैं, जिसके तहत उन्हें कोविड-19 के संबंध में सिर्फ़ उन्हीं तथ्यों और रणनीतियों को जनता के सामने रखने की छूट है, जिन्हें इन संस्थाओं की मान्यता प्राप्त हो।
इंटरनेशनल प्रेस इंस्टीट्यूट की ताज़ा रिपोर्ट बताती है कि इस बीच इन संस्थाओं से इतर मत रखने के कारण भारत समेत दुनिया भर में हज़ारों पत्रकारों और समाचार-माध्यमों को प्रताड़ित किया गया है। इनमें आपराधिक मुकदमा, जनता और पुलिस द्वारा पिटाई, आधिकारिक प्रेस कांफ्रेंसों में भाग पर प्रतिबंध, यात्राओं पर प्रतिबंध, प्रेस पास व मान्यता का रद्द किया जाना शामिल है। इस बीच, इन देशों की सरकारों ने कोविड-19 से संबंधित सवाल उठाने पर सैंकड़ों पत्र-पत्रिकाओं को बंद करवाया है, वेबासाइटों को अवरुद्ध कर दिया है तथा प्रकाशित सामग्री को हटाने के लिए मज़बूर किया है।
इन प्रताड़नाओं से अधिक चिंताजनक यह है कि एशिया, लातिन अमेरिका और अफ्रीका के कई देशों में कोरोना वायरस के बहाने सवालों को कुचलने वाले क़ानून पास कर दिये गये हैं। इस मामले में सबसे बुरी हालत एशियाई देशों में है।
रूसी संसद ने कोविड-19 से संबंधित सवालों पर प्रतिबंध लगाने के लिए गत 31 मार्च को अपराध-संहिता में परिवर्तन किया। रूस में अगर कोई व्यक्ति कोविड-19 के बारे में कथित तौर पर ग़लत जानकारी देता है तो उसे 23000 यूरो (लगभग 19.5 लाख रुपये) तक का जुर्माना और पांच साल तक की जेल हो सकती है और अगर कोई मीडिया संस्थान ऐसा करता है तो उसे 117,000 यूरो (लगभग 90 लाख रुपये) तक का जुर्माना हो सकता है।
उज़्बेकिस्तान में अप्रैल के पहले सप्ताह में इसके लिए क़ानूनों में बदलाव किया गया है। नये क़ानून में आपत्तिजनक सामग्री का भंडारण या प्रबंधन करने पर 8.2 करोड़ उज़्बेकिस्तानी सोम (लगभग 7 लाख रुपये) का दंड या तीन साल का प्रावधान किया गया है। अगर कोई व्यक्ति उसे 'शेयर' करता है तो उसे 5 साल तक की सज़ा होगी।

दक्षिण पूर्व एशियाई देश वियतनाम में फ़रवरी में बने नये क़ानून के अनुसार अब वहां सोशल मीडिया पर कथित भ्रामक जानकारी देने, शेयर करने पर 10 से 20 लाख डोंग (32 से 64 हज़ार रुपए) के ज़ुर्माना का प्रावधान किया गया है। यह रक़म वहां के नागरिकों के लिए कितनी ज़्यादा है इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि

यह अधिकांश वियतनामियों के 3 से 6 महीने के मूल वेतन के बराबर है, जो उन्हें महामारी के बारे में कोई 'ग़लत' सवाल उठाने पर चुकानी होगी।

फ़िलीपीन्स,अज़रबैजान, बोस्निया, कम्बोडिया, जॉर्डन, रोमानिया, थाईलैंड, संयुक्त अरब, ब्राज़ील, अल्जीरिया, बोलीविया, हंगरी आदि देशों में भी इसी प्रकार के नये क़ानून बनाये गये हैं।

भारत में इस प्रकार का कोई क़ानून अभी तक नहीं बनाया गया है। लेकिन यहां सरकार, न्यायपालिका और मीडिया हाउसों के मालिक सवालों को दबाने के लिए एकजुट हो गये हैं। उनकी इस एकजुटता ने अभिव्यक्ति की आज़ादी को अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक सीमित कर दिया है। मीडिया मालिकों के अन्य व्यवसायों के लिए पर्दे के पीछे से ली जाने वाली अन्य वैध-अवैध रियायतों के लिए भी।

भारत में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने देश में 21 दिनों के प्रथम लॉकडाउन की घोषणा 24 मार्च की शाम को की थी। लेकिन इस घोषणा से कुछ घंटे पहले उन्होंने देश के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों के मालिकों और संपादकों से वीडियो कांफ्रेंसिंग के ज़रिये व्यक्तिगत तौर पर बातचीत की। इस बातचीत में *इंडियन एक्सप्रेस* ग्रुप, *द हिंदू* ग्रुप, *पंजाब केसरी* ग्रुप समेत 11 अख़बारों के 20 प्रतिनिधि शामिल थे। इस बातचीत की रिकॉर्डिंग सार्वजनिक नहीं की गयी है, न ही इसमें शामिल हुए अख़बारों ने इसमें हुई बातचीत के बारे में अपने पाठकों को कोई जानकारी दी है। इस बातचीत के बारे में प्रधानमंत्री की आधिकारिक वेबसाइट पर एक संक्षिप्त सूचना दी गयी है। उसके अनुसार, इस बातचीत के दौरान प्रधानमंत्री ने कहा कि कोविड-19 संकट के दौरान 'मीडिया, सरकार और जनता के बीच, राष्ट्रीय व क्षेत्रीय स्तर की एक कड़ी की भूमिका निभाये तथा निरंतर अपना फ़ीडबैक दे। प्रधानमंत्री ने 'ज़ोर दिया कि' इस दौरान 'निराशावाद, नकारात्मकता और अफ़वाह फैलाने वालों से निपटना सबसे ज़्यादा ज़रूरी है'। उन्होंने अख़बारों के मालिकों और संपादकों को कहा कि वे 'नागरिकों को आश्वस्त करें' कि 'सरकार कोविड-19 के प्रभाव का मुक़ाबला करने के लिए प्रतिबद्ध है।' आश्चर्यजनक यह था कि उन्होंने समाचार-पत्रों के मालिकों को कोविड-19 से संबंधित लेखों और शोध-सामग्री के प्रकाशन के संबंध में भी निर्देश दिये। सामान्य तौर पर सरकारें 'खबरों' को ही मन-मुताबिक़ ढालने तक सीमित रहती हैं। इस कारण लंबे लेखों, पुस्तकों में आने वाला 'विचार' पक्ष सेंसरशिप से अपेक्षाकृत बचा रहता है। लेकिन अचानक बुलायी गयी इस व्यक्तिगत बातचीत की बैठक में नरेंद्र मोदी ने कहा कि समाचार-पत्र 'अपने पृष्ठों पर प्रकाशित लेखों के माध्यम से कोरोना वायरस के बारे में जागरूकता फैलायें' तथा 'अन्य देशों के शोधपत्र व अंतर्राष्ट्रीय डेटा को शामिल करते हुए वायरस के फैलाव के प्रभावों को उजागर करें'। उनका संकेत डब्ल्यू.एच.ओ., सी.डी.सी. आदि द्वारा वायरस के प्रसार के बारे में प्रसारित किये जा रहे अतिशयोक्तिपूर्ण आंकड़ों और महामारी से निपटने के लिए सुझायी जा रही निरंकुश नीतियों को वैधता प्रदान करने की ओर था।

प्रधानमंत्री मोदी ने इस संबंध में इलेक्ट्रॉनिक चैनलों के मालिकों के साथ भी अलग से ऐसी कोई बैठक की या नहीं, इस संबंध में जानकारी उपलब्ध नहीं है। लेकिन हमने देखा कि भारत में संपूर्ण मीडिया सरकार की कोविड-19 संबंधी नीतियों के आगे नतमस्तक रहा। मीडिया के अधिकांश हिस्से ने यहां दुनिया के सबसे सख़्त और अमानवीय लॉकडाउन पर कोई आपत्ति नहीं की, बल्कि लॉकडाउन को कथित तौर पर तोड़ने वाले भूख और बदहाली से बिलबिलाते कमज़ोर तबक़ों को समाज और देश के अपराधी के रूप में पेश किया! इस बीच मीडिया का सबसे प्रिय पद 'लॉकडाउन/सोशल डिस्टेंसिंग की उड़ीं धज्जियां' था। उन्हें इसका भी ख़याल नहीं था कि इस पद को कहते हुए वे समाज के कमज़ोर तबक़ों के मानवाधिकारों और अपने उन करुण भावों को तार-तार कर रहे हैं, जिनके बूते वे मनुष्य कहलाने के अधिकारी बनते हैं।

भारतीय मीडिया के एक बहुत छोटे-से हिस्से ने कमज़ोर तबक़ों के प्रति करुणा दिखायी तथा एक छोटे-

से ही हिस्से ने सरकारी कामकाज में अराजकता और भ्रष्टाचार के सवालों को उठाया। लेकिन इस हिस्से ने भी कोविड-19 की गंभीरता के अतिशयोक्तिपूर्ण प्रचार और इससे निपटने के अमानवीय और बर्बर तरीक़ों पर कोई सवाल नहीं उठाया। वे सरकारी विशेषज्ञता और सरकारी विज्ञान के पक्ष में पूरी ताक़त के साथ खड़े रहे।

इसके बावजूद सरकार ने सुप्रीम कोर्ट से गुहार लगायी कि वह 'न्याय के बड़े हित' को देखते हुए मीडिया संस्थानों, विशेषकर वेब पोर्टलों को निर्देश दे कि वे कोविड-19 के संबंध में सिर्फ़ सरकार द्वारा निर्देशित आधिकारिक स्रोतों से ली गयी सूचनाएं प्रसारित करें। इस पर कोर्ट ने डब्लूएचओ के डायरेक्टर जनरल डॉ. ट्रेडॉस को उद्धृत करते हुए अपने आदेश में कहा कि 'हम सिर्फ़ महामारी से नहीं लड़ रहे, हम इंफोडेमिक (कथित ग़लत सूचनाओं के प्रसार)से भी लड़ रहे हैं। फ़ेक न्यूज़ इस वायरस की तुलना में अधिक तेज़ी और अधिक आसानी से फैलता है और यह वायरस के जितना ही ख़तरनाक है' कोर्ट ने कहा कि 'हम महामारी के बारे में स्वतंत्र चर्चा में हस्तक्षेप करने का इरादा नहीं रखते हैं, लेकिन मीडिया को घटनाक्रम के बारे में आधिकारिक बातों का ही संदर्भ देने और प्रकाशित करने का निर्देश देते हैं।' इस आदेश से साफ़ है कि सुप्रीम कोर्ट ने पत्रकारिता को सरकार के निर्देशों पर चलने का निर्देश दिया, लेकिन यह आश्चर्यजनक था कि भारतीय अख़बारों ने इसे अपनी 'जीत' मानते हुए ख़बरें प्रकाशित कीं कि कोर्ट ने सरकार के आग्रह को ख़ारिज कर दिया है। भारत में समाचार माध्यमों ने लंबे समय से चली आ रही सेंसरशिप के प्रति किस प्रकार अनन्य स्वीकार-भाव विकसित कर लिया है, उसका यह एक रोचक उदाहरण है। कोर्ट के फ़ैसले को अपनी 'जीत' बता कर वे न सिर्फ़ सेंसरशिप का विरोध करने की ज़हमत उठाने से बच गये बल्कि अपनी स्वतंत्रता का झूठा ढिंढोरा पीट कर अपनी पीठ थपथपा डाली।

हालांकि कहना मुश्किल है कि क्या कोविड-19 के विभिन्न पहलुओं पर मीडिया की चुप्पी का कारण सिर्फ़ प्रधानमंत्री का भय, अख़बार मालिकों के सरकार से जुड़े आर्थिक हित हैं, या न्यायालय का निर्देश है। इन चीज़ ने निश्चय ही निर्णायक भूमिका निभायी, लेकिन यह भी सच है अधिकांश पत्रकार स्वयं भी कोविड-19 की वजह से होने वाली मौतों के पूर्वानुमान और इटली और अमेरिका से आयी मौतों की संख्या से आक्रांत हैं। उनमें से अधिकांश को आज भी यह जानकारी नहीं है कि वे पूर्वानुमान फ़र्ज़ी साबित हो चुके हैं तथा इम्पीरियल कॉलेज के नील फ़र्गुसन से ब्रिटेन के सांसद पूछताछ कर रहे हैं। इसी प्रकार, उन्हें यह भी मालूम नहीं है मौतों के आंकड़ों के संकलन के लिए ऐसी पद्धति अपनायी जा रही है, जो भले ही चिकित्सा विज्ञान के शोध के लिए उचित हो, लेकिन उससे जो आंकड़े पैदा हो रहे हैं, वे अतिशयोक्ति-पूर्ण हो सकते हैं। इसका मुख्य कारण है कि अधिकांश लोगों की ही तरह मीडिया में कार्यरत लोगों की तथ्यों तक पहुंच बहुत कठिन बना दी गयी है।

दरअसल, बिग टेक की नीतियों का प्रभाव उनके अपने प्लेटफ़ार्मों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह पत्रकारों और लेखकों द्वारा उपयोग में लिए जाने वाले सूचनाओं के स्रोतों पर भी असर डाल रहा है। बिग टेक ने महामारी से पहले और महामारी के दौरान, जो नीतियां बनायीं, उनके तहत वे विरोध में जाने वाले कुछ सूचनाओं के स्रोतों को नष्ट कर दे रहे हैं इस तरह अधिकांश तक लोगों की पहुंच लगभग असंभव बना रहे हैं।

इसके अतिरिक्त बिग टेक कथित 'फ़ैक्ट चेकिंग' संस्थाओं को धन मुहैया करवा कर विरोधी स्रोतों को अविश्वसनीय बनाने का अभियान चला रही हैं। साथ ही, छोटे ब्लॉगों, वेबसाइटों व अन्य वैकल्पिक व मुख्यधारा के समाचार-माध्यमों को धन उपलब्ध करवा कर फ़ैक्ट चेकिंग संस्थाओं में तब्दील कर रही हैं। इस काम के लिए सिर्फ़ ये टेक जायंट्स ही नहीं, बल्कि परोपकार-व्यवसायी व कई अन्य वैश्विक संस्थाएं भी पिछले कुछ वर्षों से धन उपलब्ध करवा रही हैं। इनमें मुख्य है, बिल एंड मिलिंडा गेट्स फ़ाउंडेशन। कोविड-19 से कुछ समय पहले ही उन्होंने इस दिशा में थैलियां खोल दी थीं, कोविड-19 के बाद उन्होंने इसका मुंह और चौड़ा कर दिया है।

यह सच है कि पत्रकारिता विधा की अपनी संरचनागत सीमाएं हैं लेकिन इसमें भी कोई संदेह नहीं कि

उन सीमाओं के भीतर रह कर निभाये जा सकने वाले कर्तव्यों को भी पूरा करने में पत्रकारिता विफल रही है। उसके कारणों में यहां जाने का अवकाश नहीं है। यहां इतना याद दिला देना पर्याप्त होगा कि अगर पत्रकारिता इस कथित महामारी के संदर्भ में सिर्फ़ एक तुलना भी प्रस्तुत कर पाती तो तस्वीर बिल्कुल साफ़ हो जाती। यह तुलना कुछ यों हो सकती थी कि आज भारत में अन्य संक्रामक और ग़ैर-संक्रामक बीमारियों से कितने लोग मरते हैं और लॉकडाउन की वजह से इसमें कितना इज़ाफ़ा होने की संभावना है।

बहरहाल, कोविड-19 ने हमें एक ऐसे मोड़ पर खड़ा कर दिया है, जहां से कई रास्ते निकलते हैं। हम कौन-सा रास्ता लेंगे, यह इस पर निर्भर करेगा कि हम कितने समय बाद इन बहुआयामी ख़तरों को भांपते हैं और उस पर प्रतिक्रिया शुरू करते हैं।

मो0 **9811884495**

कहानी

लॉकडाउन

प्रहलाद चंद्र दास

'आज सबेरे ही मैं मकान मालकिन से मिली थी। उनसे विनती की कि आंटी इस महीने के भाड़े में थोड़ी देर होगी, माफ़ कीजियेगा; तो वह मान गयी। हां, बोली, 'ज़रूर कि अगले महीने दोनों का जोड़ कर दे देना।' सुनीता ने ख़बर दी तो महेश का मन हल्का हो गया। अब तक घर-भाड़ा न चुका पाने के तनाव से उसे आजकल ठीक से नींद नहीं आ रही थी। मकान मालकिन के सामने आने से भी डर रहा था। दरअसल, सामान्य दिनों में हरेक महीने की दो तारीख़ को वह भाड़ा ज़रूर चुका देता था। यही उसका क़रार था। हालांकि मौखिक था। पर, ग़रीब तो अपने ईमान पर ही जीता है। इस क़रार को वह शुरू से निभाता आया था। पर, पिछली 25 तारीख़ को ही शहर पूरा लॉकडाउन में चला गया है। उसका धंधा अचानक से ठप्प हो गया। सिर्फ़ उसी का धंधा क्यों, पूरा बाज़ार बंद हो गया है। सिर्फ़ दवा और राशन की दुकानें खुलती हैं, वह भी एक ख़ास अवधि के लिए। दवा की दुकान सुबह आठ बजे से रात के आठ बजे तक और राशन की दुकान सुबह आठ बजे से शाम चार बजे तक। बाक़ी समय में सड़कों पर एक भी आदमी नज़र नहीं आना चाहिए, यह सुनिश्चित करने के लिए पुलिस की गाड़ियां शहर में दनदनाती घूमती रहती हैं।

दो हज़ार बीस का यह साल महेश कभी भूल न सकेगा। महेश ही क्यों, इस पीढ़ी का कोई भी व्यक्ति नहीं भूल सकेगा! इस साल का नाम हो जायेगा 'कोरोना साल' ! सुनीता इसे 'रोना' साल कहती है – रोने का साल ! कोरोना – कोई-कोई इसे कोविड-19 भी कहते हैं। कोविड-19, इसलिए कि इसकी उत्पत्ति का वर्ष 2019 था। हां, फैला 2020 में। 'सिर्फ़ फैलने का नहीं, पूरी दुनिया को श्मशान में बदल देने का साल है यह! ऐसा लगता है कि इस बार पूरी सृष्टि का नाश हो जायेगा। कम-से-कम आदमी तो नष्ट हो ही जायेंगे, क्योंकि अभी तक इसने पशु-पक्षियों को अपनी गिरफ़्त में नहीं लिया है!' महेश सुनीता को समझाता है। वह जब ज़रूरत की एकाध चीज़ लेने की लिए बग़ल की राशन दुकान पर जाता है, तो लोगों के मुंह से ये सारी बातें सुनता है।

'परंतु, मालकिन कितने दिनों तक मानेगी? जैसी ख़बरें आ रही हैं, ये दुर्दिन जल्दी जाने वाले नहीं हैं। सिर्फ़ घर-भाड़े की ही बात तो नहीं है। इतने दिनों की जो जमा-पूंजी थी, धीरे-धीरे वह भी ख़त्म होती जा रही है। दो छोटे-छोटे बच्चे हैं। ऊपर से सुनीता की बीमार मां भी आकर रुक गयी है। रुक क्या गयी है, लॉकडाउन ने रोक दिया है। उसका खाना-पीना, उसकी दवा-दारू …' महेश के पसीना चू गया। कंधे के गमछे से उसने अपना पसीना पोंछा और उठ कर बैठ गया।

'चाय पियोगे?' सुनीता की आवाज़ सुन कर, जैसे वह नींद से जागा।

'हां, … बनाओ! पर चीनी है?'

'लो, कर लो बात! तुम तो कहते हो कि मेरे छू देने से चाय मीठी हो जाती है !' कहती हुई सुनीता महेश की ओर देख कर हंस दी। इस उदासीन माहौल में भी महेश मुस्कुराये बिना नहीं रह सका!

सुनीता का यही स्वभाव है - थोड़े में संतुष्ट और सुखी! हंसी उसके होठों पर बिखर पड़ने के लिए मचलती रहती है, जैसे! हंसने से उसकी सुंदरता भी बढ़ जाती है। इसी हंसी ने महेश को भी क़ैद किया था। अपने

हल्के-फुल्के क्षणों में महेश क़बूल करता है।

सुनीता के पिता की मृत्यु उसके बचपन में हो गयी थी। उसकी मां ने अपने दो बेटों और इस बेटी को इधर -उधर मज़दूरी कर के पाला-पोसा था। सुनीता के लिए यह लड़का बड़ी मुश्किल से मिला था। शादी के समय उसके दूर के रिश्ते के चाचाओं ने अवश्य मदद कर दी थी। वे अभिभावक बन कर खड़े हुए थे और शादी करायी थी। एक ग़रीब लड़की के लिए यह बहुत बड़ी नेमत थी, क्योंकि उसे एक 'कमाऊ' लड़का मिला था। महेश उस समय टाटा नगर में किसी निजी कारख़ाने में कार्यरत था और उसे छः हज़ार रुपये प्रति माह की पगार मिलती थी। 2008 में इतनी रक़म काफी होती थी। लेकिन, शादी के बाद जब वह कारख़ाने में दुबारा गया तो वहां की स्थिति बदल चुकी थी। वह कारख़ाना बंद हो चुका था। उस समय देश में कल-कारख़ाने यों ही बंद होने के क्रम में थे। वह 'बेकार' होकर लौटा था। सुनीता उदास हो गयी थी। 'कमाऊ' पति पाकर कहां वह इतरा रही थी, अचानक से वह पति 'बेकार' हो गया था। बोली, 'मेरा दुर्भाग्य!' पर, महेश ने उसे ढाढ़स बंधाया। उसे लाड़ करते हुए बोला, 'तुम चिंता मत करो। मैं तुम्हें तकलीफ़ होने नहीं दूंगा। मज़दूर का भाग्य ललाट नहीं, उसके हाथ होते हैं!' फिर, उसे अपनी बांहों में कस लिया था।

उसके बाद, महेश कभी धनबाद तो कभी बोकारो में जाकर कुछ-कुछ छोटे-मोटे काम करने लगा। लेकिन मामला जम नहीं रहा था। एक बार तो उसने अपने गांव के लड़कों के साथ गुजरात निकल जाने का प्लान भी बनाया पर, सुनीता और घर से दूर हो जाने के भय ने उसके क़दम बांध लिये।

उसी समय उसके घर उसके वे संबंधी आये, जिन्होंने उसे गांव छोड़ने का सुझाव दिया। बोले 'सुरेश, काम-धंधे की बात करते हो तो शहर जाओ और अपना कुछ धंधा करो। और, मैंने देखा है कि खाने-पीने की चीज़ का धंधा अच्छा होता है। उसमें नगद बिक्री होती है और हाथ में सब समय पैसे रहते हैं। किंतु जात–पांत की वजह से गांव में तो तुम्हारा वह धंधा चलेगा नहीं। इसलिए तुम्हें गांव-घर छोड़ना पड़ेगा। मेरे गांव के एक लड़के ने बोकारो शहर में 'मोमो' की दुकान की है। अभी वह अच्छे पैसे कमा रहा है।'

'मोमो की दुकान ?'

'हां, मोमो चीनी आइटम है। पर, हमारे देश में अभी ख़ूब चल रहा है। इसे अच्छे-अच्छे लोग खाना पसंद करते हैं। ख़ूब बिक्री होती है। तुम रात भर सोच कर देखो। सबेरे अगर 'हां' कहोगे तो मैं अपने गांव के उस लड़के का पता दे दूंगा। तुम जाओ। उसके यहां कुछ दिन 'फ्री' काम करो। वह तुम्हें रहने की जगह भी देगा। काम सीख जाओगे मने, मोमो बनाने का काम, तो तुम वहीं कहीं अपना धंधा शुरू कर देना! तुम जब कहोगे, मैं उसके लिए पूंजी भी तुम्हें दे दूंगा।'

रात में उसने सुनीता के साथ विचार-विमर्श किया। सुनीता उसे परेशान-हाल देख ही रही थी। उसे नैहर से तो कोई उम्मीद न थी। शादी के बाद से ही रिश्तेदार ऐसे ग़ायब हुए थे जैसे गधे के सिर पर से सींग! वे दुबारा हाल-चाल पूछने तक नहीं आये थे।

'कुछ दिन तुम्हें अकेली रहना पड़ेगा।' महेश बोल उठा था।

'रह लूंगी। तुम कुछ 'लायक़' बन कर आओ, मैं इंतज़ार कर लूंगी।' सुनीता ने कहा था।

सबेरे महेश ने संबंधी को अपनी राय बता दी थी, और उसी दिन निकल पड़ा था, बोकारो शहर के लिए!

अभी महेश की मोमो दुकान बोकारो की प्रसिद्ध मोमो दुकान है। रोज़ सुबह वह सालन के लिए निकल जाता है। सालन तो ख़ैर, एक दिन लाने से दो-तीन दिन का काम चल जाता है, लेकिन कीमा तो एक़दम फ्रेश चाहिए होता है। हां, वह दो तरह के मोमो बनाता है – वेज और नॉन-वेज। वेज के लिए सालन और नॉन-वेज के लिए कीमा। तब तक सुनीता इधर मैदा, मसाला आदि सब तैयार कर के रखती है। महेश लौट कर आता है तो दिनों मिल कर

मोमो बनाना शुरू कर देते हैं। यह सब करते हुए दोपहर हो जाती है। तब थोड़ी देर के लिए महेश आराम फरमा लेता है। फिर, चार बजते-बजते सारी चीज़ साइकिल में सजा कर अपने ठीये पर निकल जाता है। पांच बजते-बजते दुकानदारी शुरू हो जाती है। दुकान के सामने एक बैनर टांग देता है – मुनुर मोमो! 'मुनुर' सुनीता का बचपन का नाम है, कोई जानता है, कोई नहीं जानता। हाल के दिनों में तो वह ज़ोमैटो से भी जुड़ गया था और हर दिन 12-15 प्लेट मोमो के ज़ोमैटो से बुक होते थे। रात के नौ बजते-बजते हज़ार-बारह सौ की बिक्री हो जाती थी। लागत काट कर भी पांच-छः सौ की शुद्ध बचत हो जाती थी। घर की गाड़ी अच्छे ढंग से चलने लगी थी।

घर क्या, यहां के क्वार्टर का एक आउट-हाउस था। जिसे वह मकान मालिक कहता है वे बीएसएल के एक बड़े अधिकारी हैं। उनके क्वार्टर में नौकर-चाकरों के रहने के लिए आउट-हाउस बने हुए हैं। इस आउट-हाउस को अधिकारी ज़रूरतमंदों को भाड़े पर दे देते हैं। यह आमदनी 'मेम साहबों' के बटुवे में जाती है। तब, इधर दोनों जने यह भी सोचने लगे थे कि कुछ दिनों में और पैसे जमा हो जायें तो यहीं ख़ाली पड़ी किसी ज़मीन में ख़ुद की एक झोपड़ी 'टान' लेंगे जैसा, यहां उसके जैसे अनेक लोगों ने किया हुआ है। अब तक उसने अपने बेटे को मकान मालिक 'साहब' की सिफ़ारिश पर एक अच्छे स्कूल में दाख़िला दिला दिया था। सुनीता ने अपनी बेटी के लिए झुन -झुन बजने वाली चांदी की पायल और नाक के लिए सोने की एक नथ बनवा दी थी।

ठीक इसी समय आ गया यह सर्वनाशी कोरोना ! भाड़े वाली मेम साहब बताती हैं, 'इस बीमारी को चीन देश ने बनाया है और अन्य देशों को तबाह करने के लिए उनके यहां छोड़ दिया है। रोग नहीं, इसे वे 'वायरस' कहती हैं। पूरी दुनिया में इसकी कोई दवाई नहीं बनी है। अभी सारे देश इसकी दवाई बनाने में जुटे हैं।'

एक दिन दुकान से लौटने के बाद महेश ने समझाया, 'यह छुआछूत की बीमारी है। जो बीमार हुआ है, उससे छू जाने से यह बीमारी हो जाती है। फिर जो-जो आदमी उससे छुआता है, सब में यह चली जाती है! पहले सर्दी-खांसी होती है, फिर बुख़ार आता है, सांस लेने में दिक्क़त होने लगती है और अंत में सांस नली ही जाम हो जाती है और आदमी, बस्स' …।' महेश ने अपनी जीभ बाहर निकाल कर मरने का स्वांग किया था। सुनीता बिगड़ उठी थी – 'मरें हमारे दुश्मन!' महेश हंस दिया था। बोला था, 'मरने से बचना है तो बाहर मत निकलो। निकलना ही पड़े तो हरेक आदमी से कम- से- कम, तीन फ़ीट की दूरी बना कर चलो। इसका नाम दिया गया है – सोशल डिस्टेन्सिंग, सामाजिक दूरी! बाहर निकलो तो मुंह को रूमाल या मास्क से ढंक कर रखो!' उस दिन वह सब के लिए मास्क भी ख़रीद कर लेता आया था।

'लो, छुआछूत की बीमारी यहां भी आ गयी, जिसके डर से गांव घर छोड़ कर भागे! वह भी जान मारती है, यह भी। दोनों अपने-अपने ढंग से! बच्चू, इस देश में इससे छूट मिलने वाली नहीं है! सामाजिक दूरी की तो अपनी आदत बनी हुई है।' सुनीता बोल कर हंस दी थी। महेश चुप हो गया था। 'उस' छुआछूत पर बात करने का अभी समय नहीं था।

उधर कोरोना और उसकी ख़बर जंगल की आग की तरह पूरे विश्व में फैलने लगी थी। विकसित, अविकसित सारे देश इसकी चपेट में आने लगे थे। चीन के वुहान शहर से तो इसकी शुरुआत ही हुई थी, देखते-देखते फ्रांस, इटली, स्पेन, अमेरिका… सब जगह यह मंडराने लगा था। अमेरिका ने इसे पहले तो सर्दी-जुकाम जैसी कोई छोटी-मोटी बीमारी समझ रखा था और इससे सावधान रहने की चेतावनियों को नज़र-अंदाज़ करता रहा। पर, अब वह भी डरा हुआ लगने लगा था। अपने देश में भी उसी 'नज़र-अंदाज़ी' के तहत 'नमस्ते ट्रम्प नामक' एक बड़ा आयोजन अहमदाबाद में हुआ जिसमें क़रीब तीस लाख लोगों के भाग लेने की बात सामने आयी। इसी समय एक इस्लामिक सेक्ट 'तबलीगी जमात' का एक बड़ा आयोजन दिल्ली में हुआ जिसमें उन देशों के लोगों ने भाग लिया था, जहां कोरोना फैला हुआ था। इस आयोजन में शामिल हुए लोग जहां-जहां गये, अपने साथ यह 'वायरस' लेते

गये। कारण जो भी रहा हो, पहले यह वायरस धीरे-धीरे, फिर द्रुत और द्रुततर गति से पूरे देश में फैलने लगा। इसके आरंभिक लक्षण बहुत साधारण थे- सर्दी, जुकाम और बुख़ार। पर, तुरत ही सांस नली संक्रमित हो जाती, व्यक्ति सांस नहीं ले पाता और चंद घंटों में उसकी मौत हो जाती। प्रचलित दवाएं काम नहीं कर रही थीं और नयी दवा इतनी आसानी से खोजी भी नहीं जा सकती थी। बड़े पैमाने पर लोग संक्रमित हो रहे थे। यहां तक कि मरीज़ों के उपचार में लगे नर्स और डॉक्टर भी संक्रमित होने लगे थे। इनका मनोबल बढ़ाने के लिए इन्हें 'कोरोना वारियर्स' अर्थात कोरोना से लड़ने वाले योद्धा के रूप में अभिहित किया गया। स्वास्थ्य विभाग ने संक्रमण से बचने के उपाय बताये - कहा, ' लोगों से दूरी बनाये रखें, बार-बार अपने हाथ धोयें, बेवजह घरों से न निकलें। लोगों से दूरी बनाये रखें'। झारखंड में संक्रमण देर से फैला। दिल्ली के जमात के आयोजन में भाग लेकर कुछ लोग वापस रांची लौटे थे। राज्य का पहला केस वहीं से मिला। कुछ लोगों ने शोर मचाया। कहा, 'एक ख़ास समुदाय के लोग कोरोना फैला रहे हैं।' फिर एक दिन प्रधान मंत्री ने देश के नाम एक संबोधन के पश्चात् अचानक से एक दिन का जनता कर्फ्यू का ऐलान किया। कहा, दिन भर घरों के अंदर रहें, शाम पांच बजे अपनी-अपनी खिड़की और बालकनी पर खड़े होकर ताली बजा कर कोरोना योद्धाओं के प्रति अपनी एकजुटता दिखावें।' लेकिन, अपना देश तो अपना देश! यहां कुछ लोगों ने सोचा, शायद आवाज़ से कोरोना भाग जाता हो! इसलिए उस दिन पांच बजे लोगों ने सिर्फ़ ताली और थाली ही नहीं बजायी, पटाखे भी फोड़े। ऐसा करते हुए वे सड़कों पर निकल लिये। 'सोशल डिस्टेंसिंग' की धज्जियां उड़ गयीं! पर, 23 मार्च को झारखंड के मुख्यमंत्री ने पूरे राज्य में सात दिनों का 'लॉक डाउन' घोषित कर दिया। लोग इस 'लॉकडाउन' को समझ पाने की कोशिश कर ही रहे थे कि 24 मार्च को प्रधान मंत्री ने 14 अप्रैल अर्थात 21 दिनों तक का देशव्यापी लॉकडाउन घोषित कर दिया! कहा, 'घर की दहलीज़ को लक्ष्मण रेखा मानें, उसे न लांघें! महाभारत का युद्ध 18 दिनों में जीता गया था। हम कोरोना युद्ध 21 दिनों में जीत लेंगे।'

जो जहां था, वहीं रुक गया। वाहन चलने बंद हो गये। हाट-बाज़ार सब बंद, जीवन-यापन के लिए आवश्यक सामग्रियों की दूकानों को छोड़ कर!

अब क्या करे महेश ?

फिर भी, पहले दिन उसने हिम्मत बटोरी और कुछ मोमो लेकर अपने ठिये पर चला गया था। लेकिन, ख़रीदार कहां थे? पूरा बाज़ार सूना पड़ा था। थोड़ी देर में पुलिस गाड़ी आ गयी। पुलिस ने उसे डंडे जमाये और वहां से भगा दिया। बस, सारी उछल-कूद शांत !

दो-तीन दिन बीते तो महेश की चिंता गहराने लगी। स्वयं पति-पत्नी और दो बच्चे, कुल चार जन और एक सास बूढ़ी। सास बूढ़ी अर्थात सुनीता की मां, तारा देवी, जो लॉकडाउन के पहले यहां आ गयी थी। तो कुल पांच जन हुए। उसके पास जितने पैसे हैं और जो राशन उसके पास उपलब्ध है, उससे क्या तीन सप्ताह का ख़र्चा निकल जायेगा? चूँकि, रोज़ की आमदनी थी, रोज़ का ख़र्चा था। कुछ संग्रह करने की ज़रूरत ही कभी नहीं समझी। सरकार ने कहा है, मुफ़ का राशन मिलेगा। पर, कहां? उसका तो राशन कार्ड ही नहीं था। एक बार कहा गया कि बिना कार्ड के भी राशन मिलेगा। पर, जहां मिलता होगा, मिलता होगा। वह तो दो बार लौट आया!

तारा देवी की भी अपनी रामकहानी है! उसके दोनों बेटे रांची शहर में मज़दूरी करते हैं। पांच-छ: हज़ार रुपये कमाते हैं। भाड़े के घर में रहते हैं, दोनों अगल-बग़ल। तारा देवी अब तक वहीं थी, बेटों के पास। वे उसे बारी-बारी से खिला-पिला रहे थे। उनके ठेकेदारों के टेंडरों की मियाद ख़त्म हो चुकी थी और वे नये टेंडर खुलने का इंतज़ार कर रहे थे तभी इनका भी काम चालू होता। पर, तभी लॉकडाउन हो गया। न टेंडर खुला न उनका काम! सारी गतिविधियां बंद हो गयीं। उन्होंने मां को गांव पहुंचा दिया। वहां उसकी तबियत बिगड़ी तो सुनीता की ज़िद पर महेश जाकर ले आया। तारा देवी ख़ुश कि अब कुछ दिन बेटी के पास रह लेगी। दामाद की दूकान की बरकत तो अच्छी

है! पर, तब तक यह हाल हो गया! अभी पूरा शहर रुका हुआ था। किसी तेज़ चलती गाड़ी में जैसे अचानक से ब्रेक लग गये और वह चीखती हुई रुक गयी हो! यहां सिटी सेंटर में शाम को कितने रेहड़ी वालों की दुकानें सजती थीं जो प्रतिदिन रात को दूकान समेटते तक दो-तीन हज़ार तक की कमाई कर लेते थे! बड़ी-बड़ी दूकानों और शो-रूम में काम करने वाले सेल्समैन, सेल्सगर्ल; होटल और रेस्त्रां में काम करने वाले कुक और अन्य कर्मचारी; अगल-बग़ल के गांव और झोपड़ियों से यहां विभिन्न मोड़ पर मज़दूरी की तलाश में आ जुटने वाले मज़दूर, जिन्हें हफ़्ते में एक-दो दिन काम मिल ही जाते थे; नाई, धोबी, बढ़ई, मोची, गली-गली आवाज़ देकर अपने समान बेचकर गुज़ारा करने वाले फेरी वाले … कहां तक गिनाऊं ? सब बेकार हो गये थे – यह सब सोचते हुए महेश घबराने लगता है। यह तो एक शहर की बात थी। पूरे देश में तो जाने कितने शहर और कितने लोग बेकार हो गये होंगे! टीवी में ख़बर आने लगी कि बड़े शहरों में कमाने के लिए गये मज़दूरों को मकान मालिक घरों से निकाल रहे थे, क्योंकि वे भाड़ा नहीं दे पा रहे थे। उनके खाने के लाले पड़ने लगे थे, भाड़ा कहां से देते? वे पैदल अपने घरों के लिए निकल पड़े थे। मोबाइल में फ़ोटो देखती हुई सुनीता ने पूछा, 'इतनी दूर से पैदल चल कर ये घर पहुंच पायेंगे? वह भी इतने असबाब के साथ? किसी के माथे पर संदूक है तो किसी के गठरी। किसी की गोद में बच्चा है तो किसी के बच्चा होनेवाला है!' सात-आठ साल के बच्चे मां-बाप के साथ क़दम से क़दम मिला कर चलने की कोशिश कर रहे थे!

महेश क्या जवाब देता? उसके निज के हलक सूख रहे थे। कम तो नहीं। फ़िलहाल तो 21 दिन कहा है। ख़बर है कि यह लॉकडाउन बढ़ेगा! 'घर में कितने पैसे बचे हैं?' उसने धीरे से पूछा।

'थोड़े ही होंगे। गिन कर बता दूंगी!' कह कर सुनीता चुप हो गयी।

उसे भी कुछ अनुमान था। उसने आगे कुछ नहीं पूछा।

तारा देवी प्रतिदिन खाने की थाली देख कर अनुमान करने लगी थी कि बेटी-दामाद की हालत गड़बड़ा रही है। उसदिन वह नींद से जगी तो सुना, सुनीता अपने बड़े भाई से फ़ोन पर बात कर रही थी 'दादा, हमलोगों की हालत ठीक नहीं है। खाने-पीने की बहुत किल्लत हो रही है। 'ये' अब मां को लेकर मुझे ताने देने लगे हैं। मां को तुम लोग अपने पास ले जाओ!' मोबाइल का स्पीकर ऑन था। दोनों तरफ की आवाज़ सुनायी पड़ रही थी। उधर से आवाज़ आसी, 'हम लोगों का भी वही हाल है, कमाई का कोई जुगाड़ नहीं है। पैसे ख़त्म हो गये हैं। भर पेट मांड़-भात भी नसीब नहीं है। सिर्फ़ बच्चों को दोनों बेला खिलाते हैं। बड़े लोग सिर्फ़ शाम को भर पेट खाते हैं …। किसी तरह यह समय पार होने दो। फिर, मां को ले आते हैं!'

तारा देवी और सुन न सकी। वह कान-मुंह ढंक कर पलट गयी, जैसे पुरज़ोर नींद में हो!

अगले दिन महेश के घर से एक फ़ोन आया, किसी संबंधी के मरने की ख़बर लेकर! उसके सीने में दर्द हुआ था। परिवार वालों को उसे अस्पताल ले जाने का लिए कोई गाड़ी नहीं मिली और उसकी मौत हो गयी! नज़दीकी था। गाड़ी चलती तो वह शोक में शामिल होने चला जाता। दुःख हुआ। लेकिन, अधिक दुःख हुआ यह जान कर कि गांव का कोई व्यक्ति उसकी लाश को लेकर श्मशान जाने के लिए नहीं निकला! अंत में, उसके दो बेटे और दो भतीजे उसे लेकर श्मशान गये! इंसानियत खा रहा था लॉकडाउन!

महेश ने तारा देवी की ओर नज़र उठा कर देखा। वह निश्चिंत सो रही थी। अचानक एक ख़याल उसके मन में आया, इनकी तबियत तो पहले से ख़राब चल रही है। कहते हैं, बीमार और बूढ़ों को यह वायरस जल्दी चपेट में लेता है। अगर इन्हें यहां पर कुछ हो गया तो वह क्या करेगा? उसके हाथ-पांव फूल गये! उसी समय मकान-मालिक साहब की आवाज़ सुनायी दी – 'महेश, घर पर हो क्या?'

'यह साहब क्यों पुकारने लगे आज? मेम साहब ने कहीं भाड़े वाली बात बता दी और ये घर ख़ाली करने के लिए तो नहीं कहने लगे?' डरा हुआ मन जो न सोचे! महेश दरवाज़ा खोल कर बाहर निकला।

लेकिन बाहर अच्छी ख़बर थी।

'हम लोग कुछ साथी मिल कर बग़ल के क्लब में लॉकडाउन से प्रभावित लोगों के लिए नि:शुल्क भोजन वितरण कर रहे हैं। लॉकडाउन अभी और बढ़ने के आसार हैं। पैसे-वैसे हैं तो बचा कर रखना। खाना में ख़र्चा मत करना! पूरा परिवार खाने के समय वहां चले जाना।' कहने के बाद उन्होंने भोजन वितरण का समय भी बता दिया।

'साहब नेक दिल इंसान है। मेम साहब ने तो पहले ही घर भाड़ा माफ़ कर दिया था। अब साहब ने खाने-पीने की भी व्यवस्था कर दी!'

'यह हालत हो गयी हमारी? यह कोरोना क्या भिखारी बना कर ही छोड़ेगा?' साहब के जाने बाद सुनीता ने अपना उद्गार व्यक्त किया। महेश चुप ही रहा। किसी दिन दुर्भाग्य की बात करने पर उसने सुनीता को जो ढाढ़स बंधाया था कि मज़दूर के हाथ ही उसके भाग्य होते हैं, वह उसे अनायास याद आ गया। अपने हाथों से क्या करे वह? किसने इन हाथों को बांध दिया है? उसने ग़ौर किया है, इधर सुनीता के मुंह की हंसी लुप्त हो गयी है। उदास रहने लगी है। सुनीता बोली, 'हम लोग तो चले जायेंगे पर, मां क्लब घर तक कैसे जायेगी? वह तो चल ही नही सकेगी, इतनी दूर!' फिर जवाब भी उसी ने दिया। बोली, 'अभी वहां जाने की ज़रूरत नहीं है। अभी हमारे गहने तो हैं। कुछ हमने बनवाये, कुछ शादी में भी मिले थे। इन्हें बेच दो!'

'पागल हुई हो? कौन सा महाजन तुम्हारे गहने ख़रीदने के लिए दुकान खोल कर बैठा है?'

'फिर तो बच्चों के गुल्लक फोड़ने होंगे। पता नहीं, कितने पैसे हों?' सुनीता ने उदास मन से कहा।

उस रात तारा देवी को बुख़ार आ गया। एकाध बार खांसी भी हुई। कहते हैं न, कि विपत्ति अकेली नहीं आती है! महेश डर गया। उसने कोरोना के जो लक्षण सुन रखे थे, सारे उससे मिलते-जुलते लग रहे थे। उसने अपना सर ठोंक लिया। संकट के समय दिमाग़ भी ठीक से काम नहीं करता है। उसने सुनीता की ओर देखा, सुनीता ने उसकी ओर! दोनों की आंखों में डर तैर रहा था। रात भर दोनों का ध्यान तारा देवी की खांसी की ओर बंटा रहा। बच्चे दोनों नानी के साथ सो रहे थे। सुनीता ने धीरे से उठा कर दोनों को अपने साथ सुला लिया। फिर उसे कब नींद आ गयी, पता ही नहीं चला।

सुबह जगी तो मां बिस्तर पर नहीं थी। 'शायद बाथरूम गयी हो!' सोच कर वहीं बैठ गयी। बहुत देर के बाद भी जब नहीं आयी तो वह बाथरूम की तरफ़ चली गयी। बाथरूम खुला था और वहां कोई नहीं था! 'मां कहीं चली गयी!' सुनीता ने महेश को झकझोर कर जगाया।

'अयं, क्या बोली?'

'बोली, कि मां घर में नहीं है। कहीं चली गयी!' बोलती हुई सुनीता झपट कर बाहर निकली और इधर-उधर देखने लगी। उसके घर से एक सड़क पूरब की ओर और एक दक्षिण की ओर जाती थी। पहले वह पूरब की ओर गयी। फिर दक्षिण की ओर भागी। मां का कहीं अता-पता नहीं था। वह बैठ कर रोने लगी।'

'रो मत, चलो खोजते हैं!'

बच्चे जग गये थे। उन्हें समझा-बुझा कर वे दोनों निकल पड़े। बड़ी सड़क पर आये तो गाड़ी की बात छोड़िए, एक साइकिल वाला भी नहीं दिख रहा था। मां किस रास्ते से और किधर जा सकती है? दोनों ने अनुमान कर उस रास्ते को चुना जिससे वह पहले उसके घर आती जाती रही थी। वे पहले बड़ी चौक पर गये, इधर-उधर देखा। फिर नया मोड़ की ओर चल पड़े। नया मोड़ पहुंचते पहुंचते उनके पैर दुखने लगे। सुनीता एक पेड़ के नीचे बैठ गयी।

तभी साइरन बजाती हुई एक पुलिस की गाड़ी उनके पास आकर रुक गयी। एक पुलिसवाले ने डपट कर कहा, 'पता नहीं है, घर से निकलना मना है! क्यों निकला है अभी घर से?'

'हुजूर, मेरी बूढ़ी मां सबेरे उठ कर कहीं चली गयी है। हम उसी की खोज में निकले हैं।' सुनीता ने हाथ जोड़ कर पुलिस वाले को बताया।

'अभी-अभी हम लोग एक बुढ़िया को 'चास' नाम के क़स्बे के कोरोंटाइन सेंटर में छोड़ कर आये हैं।'

'कैसी थी बुढ़िया, साहब?' महेश ने पूछा तो पुलिसवाले ने जो हुलिया बताया उससे वे समझ गये कि वह सुनीता की मां ही थी।

'वही थी साहब!' महेश बोला।

'तब, अब निश्चिंत हो कर घर जाओ। गाड़ी चढ़ने के पहले वह पूछ रही थी, 'वहां खाना-पीना मिलेगा न साहब?' तो हमने उसे सब समझा दिया। पहले डॉक्टर उसका चेक करेंगे, सब कुछ ठीक मिलेगा तो चौदह दिनों के बाद उसकी छुट्टी हो जायेगी। तुम लोग चौदह दिन बाद चास के सेंटर में आ जाना।'

'अभी जाने से भेंट करने देंगे, हुजूर ?' सुनीता ने दयनीय भाव से पुलिसवाले से पूछा। पुलिस वाला बिगड़ उठा। कड़क कर बोला, 'एक़दम नहीं! जाओगे तो तुम लोगों को भी सेंटर में डाल देंगे!'

वह सकपका कर पीछे हट गयी।

पुलिस की गाड़ी साइरन बजाती हुई आगे बढ़ गयी।

वे वापस लौट पड़े। लौटते वक़्त उनके पैर मन-मन भर के हो रहे थे।

'सुनीता' महेश ने एक चढ़ाई पर सुनीता को सहारे के लिए अपना हाथ बढ़ते हुए कहा, 'इतनी-सी दूरी में हमारी हालत पस्त हो रही है। ज़रा उनके बारे में सोचो जो सैकड़ों-हज़ारों किलोमीटर पैदल चलने के लिए निकल पड़े हैं!'

'मैं तो उन्हें यहीं से प्रणाम करती हूं।' कहती हुई उसने प्रणाम की मुद्रा में हाथ जोड़ कर अपने ललाट से सटा लिया।

थक कर चूर दोनों जब वापस घर पहुंचे तो मकान-मालिक साहब बाहर ही मिल गये। 'पता है, लॉकडाउन फिर पंद्रह दिन के लिए बढ़ गया है?' उन्होंने महेश को पुकार का कहा।

'और पंद्रह दिन?' वह साहब के मुंह की ओर ताकता रह गया। फिर पूछा, 'कितने दिनों तक चलेगा यह, साहब?'

'दिन मत गिनो। देखते जाओ!'

'पर, कहा तो गया था कि महाभारत की जंग अठारह दिन में जीती गयी थी, हम कोरोना को 21 दिन में जीत लेंगे! अभी आप बोल रहे हैं, कि दिन मत गिनो, देखते जाओ ! देखने के लिए अब रह क्या गया है, साहब ? दिन ही गिनने हैं अब तो!' महेश ने सर उठाया तो साहब वहां नहीं थे। वह अपने घर में घुस गया।

उस दिन से दोपहर का खाना वे क्लब-घर में खाने लगे।

साहब आजकल एक दिन छोड़ कर एक दिन प्लांट जाते हैं। भीड़ कम करके 'सोसल डिसटेंसिंग' बनाये रखने के लिए ऐसा किया गया है, साहब बताते हैं। प्लांट में अभी सिर्फ़ जरूरी इकाइयों को चलाया जा रहा है। इसलिए उत्पादन भी कम हो गया है। इतने दिन इस शहर में रहते-रहते महेश भी इनका मतलब समझने लगा है। साहब और भी बहुत कुछ बताते हैं। वे बताते हैं कि कोरोना का जितना हौआ खड़ा किया गया है, उतना खौफ़नाक यह है नहीं। इससे अधिक मौतें तो प्रतिवर्ष टीबी, फ्लू , मलेरिया और टाइफ़ाइड आदि बीमारियों से होती हैं। अभी भी दूसरी बीमारियों से हुई मौतों को कोरोना से हुई मौत के तौर पर दिखाया जा रहा है, ताकि इसका खौफ़ बढ़े और दवाई कंपनियों की बिक्री बढ़े। इस खौफ़ की आड़ में सरकारों को लॉकडाउन लागू करने का मौक़ा मिले। अभी लॉकडाउन का उपयोग सरकार अपने एजेंडे को लागू करने में कर रही है। मज़दूरों के क़ानून बदले जा रहे हैं। काम के

घंटे आठ घंटे से बढ़ा कर बारह-चौदह घंटे किये जा रहे हैं। महेश को सारी बातें समझ में नहीं आतीं पर, साहब पढ़े-लिखे आदमी हैं, कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगें। एक बात जो उसकी समझ में अच्छे से आ गयी वह यह कि लॉकडाउन के सर्वाधिक पीड़ित ग़रीब मज़दूर हुए हैं जो पलायन को मजबूर हो गये हैं। ये प्रायः निचली जातियों के लोग हैं जो गांव से जातिगत उत्पीड़न से राहत पाने के लिए शहर को भागे थे। यहां पर महेश को अपनी कहानी भी याद आ जाती है। अगर उसके गांव में जात-पांत और छुआछूत नहीं होती तो मोमो की यह दुकान वह वहीं लगा सकता था! एक दिन उन्होंने बताया कि अभी अस्पताल और गाड़ियों के बंद होने से भी काफ़ी मौतें हो रही हैं। उसने अख़बार में भी पढ़ा कि रांची में एक गर्भवती महिला की मौत इसलिए हो गयी कि उसकी गाड़ी को पुलिस ने लॉकडाउन के चलते आगे जाने ही नहीं दिया। एक दिन रेलवे ट्रैक पर पैदल चल कर थके-हारे मज़दूर सो गये तो ट्रेन से कट कर सोलह व्यक्ति मर गये। कुछ मज़दूरों को ट्रकों ने कुचल दिया तो कुछ को तेज़ चलती कारों ने। इसलिए उसे साहब की बातों पर भरोसा करने का मन करता है। उसके गांव में ही जो पिछले दिनों उसके संबंधी की मौत हुई, अस्पताल ले जाने के लिए गाड़ी मिलती तो शायद वह भी बच जाता!

लॉकडाउन के जब 32 दिन बीते तो महेश की हिम्मत जवाब दे गयी। दोपहर का खाना अब वे नियमित क्लब घर जा कर खाने लगे थे। लेकिन, सुबह बच्चों के लिए, कम-से-कम, नाश्ते का इंतज़ाम करना पड़ता था। बीच-बीच में बच्चे बिस्कुट आदि की भी ज़िद करने लगते थे। कई बार तो छोटी बेटी बेतहाशा रोने लगती थी। सुनीता ने गुल्लक कब का फोड़ दिया था। वे पैसे भी अब ख़त्म हो चुके थे। तीन बार वह अपने ठिये पर के फल वाले से पैसे उधार मांग कर लाया। लेकिन, उसकी ख़ुद की बिक्री नहीं के बराबर हो रही थी। फिर, महेश के पैसे वापस कर देने की सूरत भी वह नहीं देख रहा था। अंततः उसने उधार देने से मना कर दिया। उसे अब कोई अन्य उधार देने वाला भी नहीं सूझ रहा था। सुनीता ने कई घरों में घरेलू काम के लिए पूछा। पर, सबों ने मना कर दिया। अभी तो अपने नियमित काम करने वाली औरतों को भी लोगों ने कोरोना फैलने के डर से घर आने से मना कर दिया था।

महेश ने कहा, 'लॉकडाउन तो अंधेरी सुरंग की तरह लग रहा है सुनीता, जिसके दूसरे छोर का कुछ अता-पता नहीं है। आमदनी की कोई सूरत नज़र नहीं आ रही है। क्या किया जाये?'

'घर ही चला जाये!' सुनीता ने कहा, जैसे उसने बहुत पहले से सोच रखा था।

'सोच तो मैं भी यही रहा था। पर, यह भी सोच रहा था कि वहां कमाई कहां से होगी? इधर कुआं है, तो उधर खाई! सिर्फ़ एक छप्पर भर तो है वहां!'

'एक छप्पर ही सही। यहां तो उस छप्पर के लिए भी रुपये गिनने पड़ रहे हैं! फिर, गांव-गोतिये के लोग हैं, कम-से-कम बच्चों को भूखे मरने नहीं देंगे।'

'तो चलो, कल सुबह निकल चलते हैं।'

'चल लेंगे इतनी दूर?

'चलना पड़ेगा! बच्चे और सामान साइकिल में ले कर ठेल कर चलेंगे। तुमने तो देखा है, लोग हज़ारों किलोमीटर पैदल चलने के लिए तैयार होकर निकल पड़े हैं! हां, तुम याद कर मेम साहब को बोल देना कि हमलोग लॉकडाउन खुलने के बाद आयेंगे तो कमा कर आपका भाड़ा चुकता कर देंगे।'

सुनीता उदास मन कपड़े-लत्ते समेटने में लग गयी। उसके मुंह की हंसी तो जाने कब ग़ायब हो गयी थी!

मो0 9431743074

आईना साझा सच्चाइयों का

रश्मि रावत

विश्वव्यापी महामारी से घिरे मौजूदा समय में मानव की आपसदारी ही संकट से उबरने का एकमात्र रास्ता है। विज्ञान, तकनीक और त्वरित संचार साधनों की बदौलत दुनिया सिमटकर एक ग्लोबल विलेज बन गयी है। इसके अनेक नतीजों में एक यह है कि व्याधियों और विषाणुओं का भी भूमंडलीकरण हुआ है जो विगत कालों में किसी देश या इलाक़े तक सीमित रहते थे। लेकिन, जैसा इज़रायल के इतिहासविद युवाल हरारी ने एक हालिया इंटरव्यू में कहा है, विषाणुओं और मनुष्यों की इस लड़ाई में मनुष्यों का पलड़ा भारी है। विभिन्न महाद्वीपों के मनुष्य आपस में सहयोग कर सकते हैं। इसके विपरीत विषाणु कितने ही घातक और संहारक क्यों न हों, वे मनुष्यों की तरह एकजुट नहीं हो सकते। वे मानवीय चेतना की तरह आपस में संगठित हो कर कोई रणनीति नहीं बना सकते। मगर एकजुट होने की कोशिशों में वर्तमान दौर की बोझिल हवाएं निरंतर बाधा डाल रही हैं।

आइंस्टीन का प्रसिद्ध कथन है कि सोच के जिस स्तर पर कोई समस्या पैदा होती है, उसी स्तर पर रहते हुए वह हल नहीं हो सकती। लेकिन वर्तमान सत्ता वैज्ञानिक चेतना, आपसी सहयोग और भावात्मक संवेगों के उन्नयन की दरकार को क्या समझेगी, वह तो तर्कशीलता और सृजनशीलता को कुचल देने पर आमादा नज़र आती है। विभेदक तत्वों को बढ़ावा दिया जा रहा है। 'भारत' शब्द को बीच का सारा इतिहास फलांग कर पुरातन संस्कृत ग्रंथों, धर्मशास्त्रों, प्रथाओं, अंधमान्यताओं, पौराणिक आस्थाओं से जोड़ कर देखा जा रहा है। 'भारतीयता' की सत्तापोषित अवधारणा इस क़दर सिमटी हुई और सीमित है कि बीमारी, इलाज और रोज़मर्रा की आम चीज़ों तक को सांप्रदायिक चश्मे से देखने में उन्हें गुरेज़ नहीं।

ऐसे में अनामिका के उपन्यास, *आईनासाज़* से गुज़रना राहतकारी लगा। वर्तमान चुनौतियों से पार पाने का संवेग हासिल करने के लिए उनकी दृष्टि सुदूर अतीत तक दौड़ लगाती है और इतिहास के उस मोड़ तक पहुंचती है जहां, बक़ौल विश्वनाथ सदाशिव नरवणे, हिंदुस्तान की नवीनतम और सृजनशील परंपरा की शुरुआत होती है। यह परंपरा बहुत गहरी और मज़बूत है और आज तक जारी है। इसी प्रक्रिया के भीतर बहुलता, स्वाधीनता और इंसानी गरिमा जैसे लोकतांत्रिक मूल्य बने रह सकते हैं। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में इस उपन्यास पर हुई गोष्ठी में नित्यानंद तिवारी ने कहा कि

> मुसलमान जब भारत आये तो एक-दूसरे से नितांत भिन्न दो समाजों की बराबरी की समस्यात्मकता पैदा हुई। यह समस्या इतनी वास्तविक, इतनी गहरी और इतनी बड़ी थी कि व्यापक आलोचना बुद्धि और अंतःगतिशील प्रणाली और साझे स्पेस की खोज अनिवार्य हो गयी थी। इन धार्मिक पहचानों से ऊपर उठकर मानवीय बने रहना और दोनों समाजों के 'साझे आकाश' से ही 'भारतीय समाज' की संज्ञा में समाहित होना संभव था।

उनकी बातों का निचोड़ था कि कई धार्मिक समाजों, आदिवासी समुदायों और विविध जीवन-मूल्यों का साझा आकाश ही भारत है, जिसे दरकाना संभव नहीं है।

आज के समय को पर्त दर पर्त उघाड़ने वाले इस उपन्यास के अंदर एक और आत्मकथात्मक उपन्यास है, जिसमें अमीर ख़ुसरो ख़ुद अपनी जीवन कथा कहते हैं। इससे उस सामाजिक, सांस्कृतिक बुनावट को भली-भांति

समझा जा सकता है, जिसकी मिट्टी में आपसी भरोसे की अतल गहरी जड़ें व्याप्त हैं। उस काल में धर्म एक बड़ी ताक़त था। तमाम धार्मिक विभेदों को पार कर चेतना के उस प्रकाश तक पहुंचना कि मानव मात्र से प्रेम किया जा सके, सूफ़ी धारा की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। इस समय सामाजिक तानेबाने को तार-तार करने की जो कोशिशें की जा रही हैं, उनसे बेचैन होकर उपन्यासकार धार्मिक सौहार्द के सिलसिले इस युग से जोड़ना चाहती हैं। नित्यानंद तिवारी ने *पद्मावत* में जोड़ का जो शिल्प बताया है, उसी का प्रयोग इस उपन्यास में दिखता है। जायसी ने दोनों धर्मों की बारीक़ से बारीक़ अर्थ भंगिमाओं को एक-दूसरे के समानांतर रख कर इस तरह बयां किया है कि कथानक के आवयविक विकास की पहले से चली आ रही धारणा टूट जाती है और 'संपूर्ण' का एक नया अर्थ खुलता है। संपूर्ण अपने आवयविक विधान में ही नहीं होता, वह जोड़ में भी वास्तविक और पूर्ण होता है। वर्तमान परिदृश्य देख कर जोड़ को संपूर्णता के अभिन्न हिस्से की तरह स्वीकारने का औचित्य साफ़ समझ में आता है। उपन्यास के भीतर 'अथ ख़ुसरो कथा' शीर्षक से अमीर ख़ुसरो पर लिखी हुई सौ पेज की उपन्यासिका का मध्यकाल और उपन्यास में वर्णित समकाल इसी तरह से एक-दूसरे से संबद्ध हैं कि उनका अपना अलग वैशिष्ट्य और सौंदर्य क़ायम रहता है, मगर एक के दर्पण में दूसरे को देखे जाने से ही समग्र यथार्थ को ग्रहण किया जा सकता है। मध्यकाल-समकाल, स्त्री-पुरुष, निजी-सार्वजनिक, स्व-सर्व को इसी अंदाज़ में हम *आईनासाज़* में जुड़ा हुआ पाते हैं।

सूफ़ी धारा में प्रचलित शब्द 'सिलसिला' की अवधारणा से अनामिका बहुत प्रभावित हैं और इस शब्द के ज़रिये वे उम्मीदों का उत्खनन करती हैं। एक मशाल से दूसरी, दूसरी से तीसरी जलती जायेगी और मानव समाज आलोकित होता जायेगा। भक्तिकाल के तमाम मानवीय मूल्य जिनका उत्कर्ष सूफ़ी काव्य में मिलता है, इस तरह हमारे आचरण का हिस्सा बन जायेंगे। आत्मक्रांति में उन्हें समाज के कल्याण का प्रस्थान बिंदु दिखता है। उपन्यास में भाषा, संगीत, शायरी, वाद्य-यंत्र, प्रकृति, पकवान, अध्यात्म सब एक दूसरे का आलिंगन करते हुए से जान पड़ते हैं। निज़ामुद्दीन औलिया अमीर ख़ुसरो से कहते हैं कि 'तुम्हारी शायरी फ़ारसी का तबोताब, बांग्ला की मिठास और पंजाबियत का सूफ़ी नूर पा कर ऐसी दमकेगी कि एक नयी जुबां पा लेगा हिंदुस्तान।' *(आईनासाज़,* पृष्ठ 25)

मानव-मात्र के प्रति प्रेम और करुणा का भाव, ऐश्वर्य के स्थान पर सादगी, और ख़ुशामद के बरक्स ख़ुद्दारी का रेखांकन उग्र पूंजीवाद का प्रतिकार भी है। उपभोक्तावाद तो उदात्त जीवन-मूल्यों से रहित रिक्त व्यक्ति-मन को ही अपना ग्रास बना सकता है। जन-साधारण की वेदना से ख़ुद को एकाकार करने वाले चरित्र ही रचना में मुख्य पात्र के रूप में आये हैं। सत्ता की शक्ति के साथ सत्य और प्रेम की ताक़त बनाये रखना संभव नही है। रूप और धरती एवं जनता, सब पर कब्ज़ा जमाने वाले व्यक्ति-मन में प्रेम और करुणा की फ़सल कैसे उगेगी भला? अखंड सुंदरी रानी पद्मावती को कब्ज़ाने की अलाउद्दीन ख़िलजी की कुत्सा की कुरूपता दिखाते हुए रचनाकार ने कविता और काव्यात्मक गद्य के सहारे साफ़ किया है कि सूर्य की आभा, चांदनी, धूप इत्यादि को रस्सी से नहीं बांधा जा सकता। आदमी पर आदमी का भरोसा ही आदमियत की लचकी हुई डाल का अमृतफल है। अमीर ख़ुसरो के मुख से अनामिका ने लिखवाया है :

> ख़ुद को जो जीत सका, बादशाह वह ही तो/अल्ला मियां, मेरे अल्ला मियां/ वो तुम्हारी शायरी थी।/ पद्मिनी का भरोसा उससे भी सुंदर था/ प्रेम और ज़बरस्ती?/ फट जाती है धरती/ ऐसे ही दुर्योगों से/ (*आईनासाज़*, पृष्ठ 30-31)

जीते-जागते इंसान पर आधिपत्य जमाने की प्रवृत्ति शासक को उच्चतर मानवीय गुणों से वंचित करती है। सियासत इतना खोखला कर देती है कि बादशाह झूठी तारीफ़ें, चापलूसियां सुन कर ही अपने भीतर की रिक्ति को भरते हैं। निरंतर 'युद्धों से थके राजा का मन फुलसूंघी चिरैया हो जाता है।' *(आईनासाज़*, पृष्ठ 68) ऐसा काव्य रचने को बाध्य कवि स्वायत्त नहीं हो सकता। इसीलिए कलम और स्त्री की स्वतंत्रता के सवाल को लेखिका परस्पर संबद्ध

पाती हैं। एक की आज़ादी में दूसरे की आज़ादी निहित है। कवि वह औदात्य, मानवीय सद्गुणों का रस फिर पायेगा कहां इस सत्ताशील व्यवस्था में? रचना के भीतर से जवाब उभरता है कि उन मनुष्यों में जिनकी सत्ता में कोई हिस्सेदारी नहीं है, जो अधीन बनाने की संरचना से सीधे जुड़े हुए नहीं हैं। इसलिए भिक्षा में मिले अत्यल्प साधनों में जीने वाले औलिया, स्त्रियां, बच्चे और आम जनता ही ख़ुसरो के स्वत्व के कवच को भेद कर उसका विस्तार करते जाते हैं। वे इन्हें अल्लाह की तरफ़ खुलने वाली खिड़कियां कहते हैं।

सियासत के अस्थायी अस्तित्व का बोध ख़ुसरो के भीतर निरंतर रहता है कि आज सुल्तान है कल नहीं। इसलिए वे निज़ाम पिया के एक सूखे टुकड़े पर शाही दस्तरख़ान क़ुर्बान करने के लिए हमेशा राज़ी रहते हैं। जौ की एक सूखी बासी रोटी भी निज़ाम (औलिया) के गले से नहीं उतरती कि दिल्ली के मख़लूकों में कोई एक भी भूख में जगता हो तो ख़ुद को क्या मुंह दिखाऊंगा। अपनी कलम से समझौता करने से ख़ुसरो की रूह में शिकन आती है। इसीलिए दरबारी सीमाओं के बावजूद वे महीन ढंग से समय की कटु सच्चाई अपनी शायरी में पिरो देते हैं। सुल्तान उसे भले न समझ सकें मगर कविमन का विश्वास है कि उनके लफ़्ज़ वेदनामय दिलों तक जाने का रास्ता बना लेंगे। बादशाह के इशारे पर चलने वाली कलम उन्हें उतनी ही वाहियात लगती है जैसे लड़की का महफ़िल के इशारों पर नाचना। अपने जैसे एक आदमी के सामने अदब से खड़े रहना उन्हें गहरे सालता है।

सूफ़ी हृदय एक उदात्त मानव प्रेम तक पहुंचा सकता है, मगर उस कालखंड के उत्पादन-संबंधों के अंतर्गत स्त्री-पुरुष की सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों में फ़र्क़ होना लाज़मी था। उस समय स्त्रियां सार्वजनिक स्पेस से लगभग नदारद थीं। इतिहास जहां ख़ामोश है, समय के उन पन्नों में अपनी संवेदना के रंग भरने में लेखिका की लेखनी ख़ूब रमती है। पनिहारनों से बेतकुल्लफ़ी से बतियाने वाले, विदाई गीत, विवाह गीत, पहेलियां लिखने वाले अमीर ख़ुसरो स्त्रियों को सखा ही लगते हैं। जिन स्त्रियों के साहचर्य में ख़ुसरो वास करते हों, उन्हें हाड़ मांस का जामा पहनाना एक समृद्ध संवेदना की स्त्री के लिए सहज ही है। इतिहास में नाम और पहचान ही तो दर्ज होने से रह जाते हैं। कर्ता के कर्म में स्त्रियों का तेज तो शामिल होता ही है। लेखिका ने अपनी कल्पनाशीलता के बल पर अपने व्यक्तित्व के तेज से दिप-दिप करते स्त्री पात्र बड़ी सजीवता से उकेरे हैं। ख़ुसरो की अम्मी, पत्नी मेहरून्निसा, बेटी क़ायनात, रानी पद्मिनी, मल्लिका इन सबके संग-साथ में ही उनके भीतर का इंसान विराटतर होता जाता है। सभी बेहद जानदार औऱ ज़हीन किरदार हैं। पद्मिनी सा रूप और ख़ुसरो जैसे अदब के हुनर से भरी हैं ये उदात्त नायिकाएं। ईरान की राबिया फ़क़ीर का ज़िक्र बार-बार आता है। उनकी महक से सुवासित उनके शागिर्द और उपन्यास के अन्य मुख्य पात्र मिलकर दुनिया के सुदूर स्थलों में पनपी दिव्य मिठासों का साझा पान करते हैं। राबिया फ़क़ीर रचनाकार के सामने इतिहास के पन्नों में सदेह उपस्थित थीं। उन्हीं से अक्स ले कर उन्होंने अन्य स्त्री किरदारों को गढ़ा होगा। ऱाबिया अपने और दूसरों के बीच की सरहद मिटा देना मज़हब का मूल मक़सद मानती हैं।

अरब के खजूरों की मिठास और शहद का ठहराव जिनकी शख़्सियत का सार था, बला की ख़ूबसूरत वह मल्लिका राजसी जीवन छोड़ कर सादा जीवन जीती है और बालिकाओं को अमन की शिक्षा देती है। पति भी उनके सामने शागिर्द सा बना बैठा रहता है। ख़ुसरो से वे कहती हैं :

> मज़हबों का फ़र्क़ मेटने में जी-जान लगा देना ख़ुसरो। बीज किसी भी क्यारी में गिरें, उसमें फलने-फूलने का माद्दा होता ही है। ख़ुद किसी मज़हब, किसी ज़ात, किसी मुल्क की क्यारी में हमें गिरा दे, बीज की ही तरह चटककर अपनी अना की खोल से हमें बाहर आना होता है।
>
> *(आईनासाज़*, पृष्ठ 65)

बच्चों की मां मेहरू का दैहिक-आंतरिक सौंदर्य अद्भुत है। ईरान से आये राबिया के शागिर्द लहीम-शहीम शम्सुल पर मेहरू की झलक भर से ख़ुसरो की पत्नी मेहरू ख़ुसरो की शख़्सियत पर भी भारी पड़ती हैं। ख़ुसरो की शायरी के साथ उनकी भी शायरी गायी जाती है दरगाह में। पांच बहोशी तारी होती है, जैसे ख़ुसरो पर पद्मिनी से। पद्मिनी के बारे

में ख़ुसरो की भावना की ऊंचाई इन शब्दों से समझी जा सकती है :

> पद्मिनी तो पूरा कमल-ताल थी। हिंदु जनेऊ पहनते हैं न, मेरी अँतड़ियां ख़ुद जनेऊ होने के एहसास से भर गयी हैं और इस जनेऊ के पोर-पोर में गुरमंतर-सा पद्मिनी के होने-न होने के बीच का एहसास बस गया है। जैसे हिरनी दलदल लाँघती है, वह जीवन लाँघ गयी। इस देह के पिंजरे में अब दो पंछी रहते हैं। (*आईनासाज़*, पृष्ठ 35)

यही भाव शम्सुल के मेहरू के प्रति, शाहिद के कायनात के प्रति हैं। किशोरी कायनात स्वयं अपने पिता से कहती है कि यह सूफ़ियाना दोस्ती है जैसे आपकी पद्मिनी से है वैसी मेरी शागिर्द से। यह सुन कर ख़ुसरो अपनी बेटी के प्रेम संबंधों के बारे में फैली अफ़वाह पर यक़ीन करने के लिए शर्मिंदा होते हैं और ख़ुद ही शाहिद और अन्य शागिर्दों को घर ले आते हैं।

हरे-भरे मैदानों की हरियाली में स्त्री की आब देखना समाज सीखे तो चट्टानों की सघनता और विराटता में भी स्त्री की तरलता देखने का हुनर आ जायेगा। स्त्री के जल की गूंथन से ही वे पहाड़ हैं वर्ना धूल का ढेर भर होते। उस लिहाज़ से भी रचनाकार ने सही कालखंड का चुनाव किया है क्योंकि सूफ़ीधारा में स्त्री के लिए हिकारत का भाव नहीं है। प्रेमिका ईश्वर का प्रतिरूप होती है, जिसे पाने के लिए जीव को पात्रता अर्जित करनी पड़ती है। निरंतर प्रयास से प्रेम की पात्रता को उपलब्ध करना पुरुष सीख ले तो यह धरती प्रेममय हो जायेगी। प्रेम आधारित समाज तो समतामूलक समाज होगा ही, जिसमें सब अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिए स्वतंत्र होंगे।

स्त्री को अपने बारे में लिखते हुए एक लंबा अरसा हो चुका है। अब स्त्री-पुरुष का अपरिचय काफ़ी कम हुआ है। स्त्री- सरोकारों को समाज के सरोकार समझने की चेतना अगर बन रही है तो अगले चरण में पुरुषों की तरफ़ से ऐसे पुरुष किरदारों के हवाले से बातें आने की दरकार है कि पुरुष ग्लानि भाव से लिखे, उत्तरोत्तर विकसित होती स्त्री चेतना के साथ अपना ताल-मेल बिठाये। स्त्री को दोष देने और पीछे खींचने की जगह नयी ज़ैंडर संवेदना के हिसाब से अपना विकास करे। मध्यकाल की पृष्ठभूमि में लिखे गये इस उपन्यास में पुरुष किरदार यह अपेक्षित भूमिका निभाते हुए दिखता है। ख़ुसरो कहते हैं :

> कायनात की सबसे ख़ूबसूरत चीज़ औरत, सिरजनहार के नूर का ख़ज़ाना और हमने उसका क्या हाल कर रखा है। मेरी पूरी शायरी, सूफ़ियों का पूरा दीनो मज़हब एक ही फेर में लगा है कि कैसे हम ऐसी फ़िज़ा रच सकें जहां औरत, मुफ़लिस, बुज़ुर्ग, बच्चे और प्रकृति, जो ख़ुद का आईना है शैतानी हरकतों के जूतों तले चूर-चूर होने से बच जायें।....औरतें ख़ुद के रहस्य की पिटारियां हैं। (*आईनासाज़*, पृष्ठ 44)

उपन्यास में स्त्री-पुरुष के बीच सबसे अच्छा रिश्ता दोस्ती का माना गया है । पति-पत्नी के बीच भी दोस्ताना संबंध होने की कामना की गयी है। वर्तमान समय में जब स्त्रियों का आर्थिक, सामाजिक आयाम काफ़ी विस्तार पा चुका है और सार्वजनिक परियोजनाओं में उनकी भागीदारी बढ़ती जा रही है, स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों को सीमित नज़रों से देखे जाना लेखिका को सालता है। व्यक्तित्व बहुआयामी हैं और यथार्थ जटिल तो स्त्री-पुरुष के रिश्ते कैसे इकहरे हो सकते हैं? मगर अभी भी स्त्री को अपनी छवि को लेकर शंकित रहना पड़ता है क्योंकि उसे लेकर फैलाये गये प्रवाद और अफ़वाह उसकी क़ाबलियत और उपलब्धियों पर भारी पड़ते हुए अक्सर देखे जाते हैं। अनामिका वांछित संबंध को 'सूफ़ियाना दोस्ती' कहती हैं। सृजनशील परंपराओं में आधुनिकता के साथ संवाद करने की और रूप बदलकर क़ायम रहने की भरपूर सामर्थ्य होती है। मगर प्रस्तुत उपन्यास में आधुनिक शब्दावली में इन वांछित रिश्तों को नहीं ढाला गया है। शायद इसलिए कि 21वीं सदी में भी उपन्यास के स्त्री पात्र सामंती हिंसा का उसी तरह शिकार

बनते दिखायी देते हैं। आज भी स्त्रीत्व का सार उसके कर्म और व्यक्तित्व में नहीं खोजा जाता और बौद्धिक और सार्वजनिक जीवन में उसकी सफलता में रोड़े डाले जाते हैं। फिर भी वह किसी तरह उपलब्धियां पा जाये, तो उसके चरित्र पर आक्षेप लगाये जाते हैं, पुरुष-मित्र के साथ उसके सहज संबंधों को कलुषित, सीमित नज़रों से देखा जाता है। इन सबसे सीमित, वंचित जीवन जीने को बाध्य विविध स्त्री किरदार ही समकाल वाले हिस्से में साकार होते हैं। एक प्रबुद्ध, सचेत, आधुनिक स्त्री द्वारा सामान्य सा मानवीय भाव जीने के लिए व्यतीत का उत्खनन करना और अतीत की शब्दावली में उसे व्यक्त करने की ज़रूरत महसूस करना यह संकेतित करता है कि आधुनिक विचार सरणियों और आचरण पर पुनर्विचार की ज़रूरत है।

बहरहाल 2020 में प्रकाशित इस उपन्यास में तो स्त्री-पुरुष के सामान्य संबंध सूफ़ियाना दोस्ती के ढांचे में ही संभव हो पाते हैं। समकाल को संबोधित रचना के लगभग आधे हिस्से में केवल दो पात्र सिद्धू और नफ़ीस ही स्त्री के दोस्त होने की पात्रता रखते हैं और यह पात्रता वे जीने के आधुनिक मुहावरे से नहीं बल्कि सूफ़ी प्रभाव में अर्जित करते हैं।

उपन्यासकार की कविताओं, स्त्री प्रश्नों पर निरंतर लेखन और पहले छपे दो उपन्यासों, *तिनका तिनके पास* और *दस द्वारे का पींजरा* को पढ़ने से उनकी उन्नत स्त्री चेतना के प्रति कोई संदेह नहीं रह जाता। उसके तहत भरोसा बनता है कि अब तक के आंदोलनों और ज्ञानधाराओं के निचोड़ से अस्तित्व में आये संविधान और लोकतंत्र में ही व्यक्तित्व विकास की संभावनाएं साकार की जा सकती हैं। प्रगतिशील विचारधारा ही व्यापक मानव-मुक्ति की दिशाएं तय कर सकती हैं। मगर यह उपन्यास में हुआ नहीं है, हो पाया नहीं है। शब्द और कर्म के बीच का फ़ासला उपन्यास में जगह-जगह दिखाया गया है। सरोज, सपना और ललिता इस व्यवहार से जख़्मी होते रहते हैं।

प्रखर स्त्रीवादी अनामिका मार्क्सवाद और धर्म को एक छज्जे के नीचे लाने की बात आख़िर क्यों कर रही हैं? स्त्री की अधीनस्थता की समूची कल्पनाएं धर्म से आयी हैं। धर्म से मुठभेड़ करके ही वह इन कल्पनाओं से अपने को मुक्त कर सकती है। संस्कारों में सखा के रूप में ईश्वर की कोई छवि बची रहना अलग बात है। अंतर्जगत की तरलता क़ायम रखने से किसे गुरेज हो सकता है? करुणा तो मानव मात्र के लिए ज़रूरी है। मन का आयतन जिस माध्यम से भी बढ़े काम्य ही है। उसमें प्रेम और करुणा जैसे व्यापक मनोभाव बने रहें। क्रांति के पीछे करुणा की शक्ति ही तो काम करती है। मगर सैद्धांतिक रूप से प्राचीन कालीन संचालक शक्ति को आधुनिक ज्ञान सरणि के साथ जोड़ कर देखना, समझना थोड़ा मुश्किल है। 500 साल में तो जीवन को प्रभावित करने वाले ज्ञान के हर आयाम में इतना विकास हुआ है कि दुनिया को देखने-समझने और बदलने के रास्ते ही बदल गये। विकास के इतने लंबे उपक्रम के बाद कमाये हुए टूल आगे बढ़ने के लिए अपर्याप्त क्यों लगने लगे? इस उपक्रम का तो वैयक्तिक तौर पर ही कोई मतलब हो सकता है कि व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति करके अपना विस्तार करे तो उसके भीतर अहं, काम, क्रोध और स्वार्थांधता का विलीन होना सामूहिकता में सहायक हो सकता है।

सामंतवाद बीत नहीं गया। समाज का बड़ा हिस्सा संविधान की मुट्ठी से बाहर छिटका हुआ है। कोई बड़ी सामाजिक शक्ति काम नहीं कर रही है। पब्लिक और घर दोनों ही दायरों में पुरुषसत्तात्मकता बुरी तरह काबिज़ है। स्त्री की सुरक्षा तक ख़तरे में है। बक़ौल अनामिका मुश्किल यह है कि स्त्री के पास अपना कोई पब्लिक स्फ़ेयर नहीं है। इसलिए अकादमिक, साहित्यिक जगत में भी वही स्त्री मज़बूत स्थान बना पाती है जिसे किसी न किसी रूप में पुरुष संरक्षण प्राप्त हो। उपन्यास में कविता नामक लेखिका के उदाहरण से इस सरोकार को स्पष्ट किया गया है, जो अपने पति जलज के सहयोग से साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाती है। अकेली स्त्री के लिए यह दुर्लभ है। अतएव अनामिका रचित स्त्री अपनी गरिमा के सूत्र सूफ़ियाना दोस्ती में खोज रही है।

समकाल की केंद्रीय पात्र सपना जैन जब मॉडलिंग नेक्सस-कम सैक्स रैकेट में फंस जाती है तो मित्र सिद्धू

के वैयक्तिक प्रयासों से ही बाहर निकल पाती है। व्यवस्था उसके काम नहीं आती। उसकी दर्ज करवायी एफ़. आई. आर पर चार साल तक कुछ नहीं होता। आदिवासी कवयित्री सरोज कुंडो को निराधार अनर्गल बातों से पहले बदनाम किया जाता है, फिर चरित्रहीन समझ लिये जाने पर 'उपलब्ध' मान लिया जाता है। बाद में उसके साथ भीषण गैंगरेप होता है। सभी दुर्घटनाओं में निजी प्रयासों से ही किसी तरह की मदद मिलती है। अपराध देश के, समाज के ख़िलाफ़ होता है। मगर शिकार उसकी सजा अकेला भोगता है।

लोकतंत्र की मशीनरी अधिक कारगर नहीं हो पाती। अपने आई पी एस दोस्त सिद्धू के प्रभाव का प्रयोग करके सपना अपने दैहिक शोषण की फ़ाइल भी सरोज कुंडो के साथ खुलवाती है। विकट संघर्ष से गुज़रने और दो गवाहों की मौत के बाद आंशिक रूप से न्याय मिलता है। वह भी सहज ढंग से नहीं। सोशल मीडिया के ज़रिये प्राप्त पब्लिक स्फ़ेयर इस जद्दोजहद में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सालों से कार्यरत संगठनों के आंदोलन और महिला आयोगों का भी उपन्यास में जिक्र नहीं है। कृष्णा सोबती की झलक देती वरिष्ठ साहित्यकार श्यामा, सूफ़ियाना मिजाज़ का मितभाषी धीरोदात्त नफ़ीस, मनोवैज्ञानिक शैफाली, बाद में सपना और सरोज मिल कर करुणा, प्रेम, बराबरी के मूल्यों को जगाने के लिए तरह तरह के उपक्रम करते हैं। मातृसदन, बाल छात्रावास चलाते हैं। धर्मेतर अध्यात्म के माध्यम से समानता और स्वतंत्रता के मूल्य जगाते हैं। सीमित सही मगर इनके महत्व से इंकार नहीं किया जा सकता। मगर इनका व्यापक और दूरगामी प्रभाव नहीं हो सकता जब तक व्यवस्था में कोई बुनियादी बदलाव नहीं आयेगा।

पात्रों के जीवन संघर्षों को इन उदाहरणों से समझा जा सकता है। इप्टा से जुड़े नफ़ीस के अब्बू ने अपनी पत्नी के जीते जी कभी उनसे अच्छा व्यवहार नहीं किया। इतिहास की प्रोफ़ेसर ललिता के आई.आई.टी, एम.आई.टी से पढ़े पति सुधीर चौधरी ने जिस महास्वप्न की ख़ातिर सिलिकॉन वैली की नौकरी छोड़ कर भारत का रुख़ किया था, उसमें मिली हताशा की कुंठा अपनी बीबी और बच्चों पर निकालते हैं। ललिता के पिता ने ही विभाजन के बाद के पहले दंगे से दुखी हो कर सौहार्द के सूत्र खोजने के क्रम में अमीर ख़ुसरो पर पूर्वोक्त उपन्यास लिखा था। ख़ुसरो की आंखों का तारा सबसे छोटी बेटी कायनात जो बेहद ज़हीन, ख़ूबसूरत और आला दर्जे की शायरा है, अंत में उसका अपहरण हो जाता है। कई दिनों तक उसका अता-पता नहीं मिलता और बाद में वह ख़ुद में खोयी सी, अना (अहंकार) के कवच को लांघ कर राबिया का कोई रूप लगने लगती है। श्यामा दी का कहना था कि ललिता के लिए जो पिता की वेदना थी वही उनके उपन्यास में कायनात में उतर आयी है। प्रोफ़ेसर ललिता उस अधूरे उपन्यास को पूरा करना चाहती है। कायनात के जीवन की परिणति 1969 में उनके पिता नहीं तय कर पाये थे। शायद यह ललिता की ज़िंदगी से तय होना था। वह मातृभाव से सब माफ़ करती चलती है, वह मैट्रो, लाइब्रेरी के एकांत में ही निजी कोने और कुछ राहतें पाती है। 'छत, बाथरूम, भंडार घर औरत के तीसरे फेफड़े' (*आईनासाज़*, पृष्ठ 162)। होते हैं। ऐसे ही ललिता को मैट्रो में पति-बच्चों से दूर मायके की निश्चिंतता मिलती है। आत्मनिर्भर, शिक्षादीप्त, आधुनिक ललिता की नियति को मध्यकालीन कायनात जैसा क्यों होना चाहिए? मातृत्व के उद्दाम भाव, क्षमा भाव के स्थान पर वह आधुनिक उपादानों का सहारा क्यों नहीं लेती?

पितृसत्ता का शिकंजा आधुनिक ज़माने में रूप बदलकर और त्रासकारी हो गया है। परंपराप्रदत्त उत्सव, कला, साहित्य, संगीत आदि में स्त्रीविरोध समाहित है। इसीलिए सूफ़ी गाने इतना भाते हैं क्योंकि उनमें स्त्री का बेचारा रूप नहीं मिलता। सचेत स्त्री उत्सवधर्मिता के स्पेस और कहां खोजे जायें जब नये स्वस्थ स्पेस नहीं बने हैं। सेनानी की तरह निरंतर संघर्ष करते-करते स्त्री थक जाती है। मनचाहा सहचर विरले ही स्त्रियों को प्राप्त होता है। अधिकांश सजग स्त्रियां एकाकी हैं। 'आधुनिक स्त्री की कशमकश यही है कि उसे एकांगी पुरुष ही हर तरफ़ बिखरे हुए मिलते हैं- कोई सिर्फ़ जिह्वा, कोई सिर्फ़ लिबलिबी...कोई सिर्फ़ दिल ही दिल, कोई दिमाग़ ही

दिमाग़' (*आईनासाज़*, पृष्ठ 164)। ऐसे में जिजीविषा बनाये रखना, स्व-प्रेम बनाये रखना भी उसके लिए चुनौती बन जाता है। सपना के रेप के बाद, *ललितासहस्रनाम*, के स्तोत्र सुना कर उसके मन से शरीर के प्रति घृणा भाव मिटाने की कोशिश की जाती है। आध्यात्मिक ताक़त के सहारे बड़ी से बड़ी दुर्घटना के बाद ज़िंदगी को जीने योग्य समझने की प्रेरणा दी जाती है। रचना में सुझाये गये रास्ते व्यापक मानव मुक्ति तक भले न ले जाते हों पर चंद लोगों की ज़िंदगी जीने लायक़ तो बनाते हैं। आधुनिक सरणियों से रास्ते मिलने लगें तो स्त्री को कभी परंपरा, कभी उत्तरआधुनिक कलाओं के ज़रिये मौलिक रास्तों का संधान निरंतर करते रहने से निजात मिले। पेंटिंग के नमूनों के ज़रिये यह उपक्रम किया जाता है कि बलात्कार से क्षत-विक्षत शरीर के स्वस्थ होने के साथ-साथ सरोज का मन भी स्वस्थ हो जाये। अपने तन-मन के प्रति उसका स्वीकार भाव लौट आये। इसके लिए स्त्री-अंगों को लेकर की गयी ख़ूबसूरत कल्पनाओं से सिरजी हुई पेंटिंग्स उसे दिखायी जाती हैं।

जिजीविषा अगर समाज से नहीं मिलेगी तो उसके उत्खनन के लिए स्त्री कभी अपने भीतर डुबकी लगायेगी, कभी इतिहास और परंपरा में। इसे नयी उर्जा से ख़ुद को लैस करने के विराम स्थल की ही तरह महत्व दिया जा सकता है। लेखनी खजूर की मिठास में डुबा कर उल्लास और उछाह के साथ मनमोहक भीनी भीनी महक भरा गद्य अनामिका सूफ़ियाना भावबोध के सहारे ही लिख पायीं। इससे रूह को राहत मिली होगी। इस स्फूर्ति ने प्रतिरोध के आधुनिक उपकरणों से उन्हें दोबारा लैस कर दिया होगा। ख़ुसरो की ज़हीन, साहसी बेटी कायनात की कहानी ललिता के पिता ने भी अधूरी छोड़ी और ललिता ने भी। शायद ऐसा सचेत रूप से किया गया कि सभी जन मिल कर सोचें कि हम उसकी ज़िंदगी की क्या परिणति चाहते हैं। यह कहानी अधूरी छोड़ने का यह भी अर्थ है कि अनामिका अभी रास्ते तलाश रही हैं। आधुनिक ज्ञान-सरणियों की सीमाओं का तो भरपूर संज्ञान उन्होंने उपन्यास में लिया है मगर समाधान को लेकर अभी वे निश्चित नहीं हैं। सभी तरीक़ों को खंगाल कर देख रही हैं। स्त्री चेतना के अगले चरण की चमक से दीप्त लेखिका की आगामी कृतियों में शायद यह कहानी हम पूरी होते हुए देख सकेंगे। पाठकों को यात्रा की ओर उन्मुख करना अगर उनका उद्देश्य था तो भी वे पूरी तरह सफल हुई हैं। उपन्यास पूरा होने के बाद भी कायनात चेतना में कौंधती रहती है। पूछती है हमसे वह- बच्चियों को कैसे समाज में कैसी ज़िंदगी जीते देखना चाहते हैं और इसके रास्ते कहां से मिलेंगे?

मो0 8383029438

***आईनासाज़* (उपन्यास)**
ले0 : अनामिका
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली
पहला संस्करण : 2020
मूल्य : रु. 250
पृष्ठ : 248

साक्षात्कार

'समाधान प्रस्तुत करना रचनाकार का काम नहीं' : असग़र वजाहत

वरिष्ठ कथाकार असग़र वजाहत से नंद भारद्वाज की बातचीत

***पां**च जुलाई, 2018 की वह ख़ुशनुमा सुबह, जयपुर के साहित्यकारों, पत्रकारों और संस्कृतिकर्मियों के लिए एक सुखद संयोग की तरह थी, जब हिंदी के वरिष्ठ कथाकार एवं जनवादी लेखक संघ के अध्यक्ष असग़र वजाहत को अपनी 72वीं वर्षगांठ पर जिस आत्मीयता के साथ अपने बीच संवाद करते देखा-सुना और समझा। वह निश्चय ही उनके लिए एक यादगार अनुभव था, जिसकी स्मृति आज भी उनके चेहरों पर मुस्कान सजा देती है। ऐसी मुलाक़ातें और संवाद हमें साहित्य, संस्कृति और अपने समय-समाज के ज़रूरी सवालों पर किसी महत्वपूर्ण रचनाकार की रचनाशीलता और संजीदा सोच को जानने-समझने का बेहतर अवसर प्रदान करती है।*

असग़र भाई के दो दिन जयपुर प्रवास के दौरान उनकी 72 वीं वर्षगांठ को ज़रा क़ायदे से मनाने के सिलसिले में पिंकसिटी प्रैस क्लब के सभागार में जो सम्मान संगोष्ठी आयोजित की गयी उसमें उनके संक्षिप्त औपचारिक परिचय के बाद मेरे साथ संवाद का जो सिलसिला आरंभ हुआ तो असग़र भाई ने बहुत पुर-ख़ुलूस तरीक़े से उन सवालों के जवाब दिये। वही बातचीत यहां अविकल रूप से प्रस्तुत की जा रही है – नंद भारद्वाज

नंद भारद्वाज : असग़र भाई, सबसे पहले तो आपको अपनी 72 वीं सालगिरह पर हम सभी की ओर से हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं। एक वरिष्ठ हिंदी कथाकार के रूप में यहां सभी लोग आपसे भली भांति परिचित हैं और यह हमारी ख़ुशक़िस्मती है कि आज आप हमारे बीच मौजूद हैं और आपसे संवाद का यह सुखद अवसर मिल रहा है। मेरा यह भी मानना है कि एक लेखक अपने लेखन के माध्यम से पाठकों के बीच और उनके ज़हन में सदा बना रहता है और वह मौजूदगी क़तई कम असरकारी नहीं होती। आप एक लेखक होने के साथ शिक्षक के रूप में भी जो अवदान करते रहे हैं, वह अपने आप में इतना बड़ा है कि कई बार लेखन उसका पूरक कर्म लगता है। निश्चय ही यह सार्वजनिक जीवन में एक लंबी प्रक्रिया से संभव होता है। शिक्षण के साथ जन संचार का जो व्यापक क्षेत्र है, वह चाहे इलैक्ट्रॉनिक मीडिया हो या सिनेमा, इन माध्यमों से जुड़कर आपने काम किया है। एक ऐसा लेखक जिसका इन सभी माध्यमों से गहरा ताल्लुक़ रहा हो, उसके साथ किसी एक बैठक में हम सब कुछ जान लें, यह आसान नहीं है। फिर भी मेरी कोशिश रहेगी कि आपकी सक्रियता का यह जो बड़ा फलक है, उसे हवाले में अवश्य रखूं। जैसा आपके बारे में सभी जानते हैं, आप जिस सैय्यद परिवार से आते हैं, उस परिवार का अपने ज़माने में एक अलग रुतबा रहा है, अच्छे ख़ासे ज़मींदार परिवार से हैं आप। उत्तरप्रदेश के फ़तेहपुर में आपका जन्म हुआ, वहीं आपका बचपन बीता और वहीं प्रारंभिक से लेकर दसवीं तक की शिक्षा ग्रहण की। आपके पहले उपन्यास, *सात आसमान* में इस पारिवारिक पृष्ठभूमि के ब्यौरे मुग़लकाल में हुमायूं तक मिलते हैं। सैय्यद परिवार की ऐसी पृष्ठभूमि और रुआब-रुतबे वाले माहौल से एकदम उलट जो सहज सूफ़ी मिज़ाज वाली जीवन-शैली आपने अपनायी, तो यह जानने की सहज जिज्ञासा होती है कि यह सब कैसे संभव हुआ और इसके पीछे क्या कारण मानते हैं आप?

असग़र वजाहत : एक बहुत रोचक और एक तरह से बड़ा बुनियादी सवाल आपने पूछा है और उसका उत्तर इतना

सरल नहीं है। हालांकि थोड़ा अगर गहराई में जायें, तो शायद लगेगा कि वह सब स्वाभाविक सा ही था। जिस परिवेश में मैंने आंखें खोलीं, वह एक तरह का सामंती परिवेश ही था, लेकिन उस सामंती परिवेश में कुछ मानवीय मूल्य बहुत महत्वपूर्ण थे। यह ज़रूर था कि सबको बराबर बेशक नहीं समझा जाता था, लेकिन यह भी ज़रूरी था कि सबको एक इंसान ज़रूर समझा जाये। तो इस प्रकार का माहौल था, जहां सब के प्रति मानवीय संवेदना मन में रहती थी। यह शिक्षा मुझे प्रारंभ से ही मिली कि मनुष्यता जो है, वह सबसे बड़ा मूल्य है। उस माहौल से निकलकर जब मैं अलीगढ़ आया, तो अलीगढ़ और दूसरे विश्वविद्यालयों के बारे में जैसा आप जानते हैं, वे अपने आप में उस समय मंथन और चिंतन के गढ़ थे, जहां अलग अलग विचारधाराएं और सोच रखने वाले लोग उन विश्वविद्यालयों में होते हैं और, दरअसल शिक्षा का एक बड़ा पहलू यह होता है कि आप जीवन और जगत के बारे में अलग अलग दृष्टिकोणों से परिचित हों, जो महत्वपूर्ण हैं। संयोग से यहां मेरा कुछ प्रगतिशील और जनवादी सोच वाले लोगों से परिचय हुआ और निश्चितरूप से उसका बड़ा प्रभाव मेरे सोचने जीने के ढंग पर पड़ा है और बहुत सी बातों के बारे में मैंने फिर से सोचना शुरू किया, और उसमें बचपन में बिताया हुआ समय सहायक सिद्ध हुआ कि मनुष्य को मनुष्यता के रूप में देखना, प्रत्येक मनुष्य में एक मानवीय भावना और संवेदना है, उसका हमें पूरा सम्मान करना चाहिए। तो यह मेरे ख़याल से उस परिवेश के कारण और अलीगढ़ में पढ़ाई के कारण संभव हुआ।

नंद : जब आप ग्रेजुएशन के लिए अलीगढ़ आये तो आपने बीएससी यानी साइंस में स्नातक की शिक्षा ली, फिर वहीं से हिंदी में एम ए किया और उसी में 'हिंदी और उर्दू की प्रगतिशील काव्य–धारा' पर पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। इस तरह उस समय की हिंदी कविता और उर्दू शायरी से आपका गहरा ताल्लुक़ रहा। आपने कविता और शायरी के बेहतर हवाले भी अपने लेखन में दिये हैं, लेकिन आपकी छवि जो है वह एक कथाकार की या नाटककार की ज़्यादा मुखर रही है। कविता और शायरी में रुचि तो ज़रूर रही और शायद यही कारण रहा हो कि आपके लोकप्रिय नाटक 'जिस लाहौर नइ देख्या ….' के हरेक दृश्य का अंत आपने कविता में ही किया है, लेकिन आश्चर्य है कविता से इतने क़रीबी रिश्ते के बावजूद उसे अपनी अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम नहीं बनाया। मेरी जिज्ञासा है कि कविता से इस दूरी की क्या वजह रही?

असग़र : देखिए, मेरे विचार से कविता करना एक अलग तरह के मिज़ाज की मांग करता है, मैं चाहता ज़रूर था कविता लिखना, पर नहीं लिख सका, लेकिन अच्छी कविता पढ़ने की रुचि हमेशा रही, इसलिए मुझे नहीं लगा कि सब कविता लिखें, कुछ अच्छी कविता पढ़ने वाले भी हों तो बेहतर है। कविता के प्रयोग मैंने अपनी कहानियों में शुरू किये हैं, कविता के तत्वों को कहानी में इस्तेमाल करना और उन्हें कहानी की भाषा में बदलना, इस तरह कविता की शक्ति को कहानी या गद्य में लाने की कोशिश मैंने अवश्य की। जबकि मेरे बहुत से कवि मित्र कहते हैं कि बहुत से लोग कविता में असफल होने के बाद गद्य में आ गये हैं और उन्होंने गद्य लिखना शुरू कर दिया है, शायद मेरे साथ भी ऐसा ही कहते हों, पर उस तरह कविता की शुरूआत तो कभी मैंने की ही नहीं।

नंद : असग़र भाई, जहां से आपकी कहानी लिखने की यात्रा शुरू होती है, यानी सन् 1963 में आपकी पहली कहानी सामने आयी थी और उसके बाद *धर्मयुग, कल्पना* आदि पत्रिकाओं के माध्यम से लगातार कहानियां सामने आने लगीं, लेकिन तभी से नाटक में भी आपकी रुचि बढ़ी और आप नाटक लिखने लगे। आपने स्वयं कहा भी है कि कहानियों में नाट्य तत्व आपको बहुत आकर्षित करता था। कहानियां आपको सुनायी जाती थीं तो वह तत्व आपका सबसे अधिक ध्यान खींचता था, नाटकीय घटनाक्रम, नाटकीय स्थितियां, संप्रेषण की दृष्टि से आपको ज़्यादा प्रभावशाली लगती रही हैं और आपने नाटक विधा में सीधे हस्तक्षेप किया। मेरी जिज्ञासा यहां कहानी के उस पक्ष से है, जो आपको एक बड़े उद्देश्य या बड़े मक़सद से जोड़ता है। यानी हमारे समय में जो सबसे अधिक चिंता पैदा करने वाले सवाल हैं, उनको आपने कहानी विधा के माध्यम से कहने की कोशिश की और वह भी किसी बने

बनाये शिल्प में नहीं, बल्कि शिल्प भी आपने अपने ढंग का गढ़ने की कोशिश की। यानी पारंपरिक कहानियां जिस तरह से लिखी जा रही थीं और उस समय की लोकप्रिय हिंदी पत्रिकाओं में जिस तरह की कहानियां मांगी जा रही थीं, आपने उस मांग के अनुरूप लिखना पसंद नहीं किया, अपनी स्वयं की रुचि और शर्तों पर लिखना ही पसंद किया। सांप्रदायिकता का मसला आपकी कहानियों और आपके लेखन में सबसे गंभीर मुद्दा रहा है, इस तरह की सोच विकसित होने की क्या वजह मानते हैं और किस तरह आपने इसे संभव किया?

असग़र : देखिए, अपने समाज से सवाल करने और अपने सवालों के जवाब हासिल करने की कोशिश हर रचनाकार की होती है, जब वह अपने समाज से सवाल करता है और अपने परिवेश की व्याख्या करने की कोशिश करता है, तब उसका ऐसे सवालों से सामना होता है, जिनके जवाब शायद उसके पास नहीं होते। जवाब नहीं होते हैं, लेकिन सवाल होते हैं और सवाल होते हैं तो उनके जवाब खोजने की कोशिश होती है। तो रचनाकार का काम उन सवालों को रेखांकित करना है। समाज को देखकर मेरा यह मानना है कि उसमें बुनियादी रूप से एक असमानता है, असमानता इतनी क्यों है? असमानता के कारण लोगों का जीवन इतना कठिन क्यों है? असमानता के साथ ही जो बेरोज़गारी है, वह इतनी भयावह है, शोषण किस प्रकार से कैसे, कितना लोगों का हो रहा है, उसकी दूसरे समाजों से तुलना करनी है, संयोग से मुझे अक्सर विदेशों में जाने का अवसर मिलता रहा और अपने समाज की दूसरे समाजों से तुलना करने की जो अपेक्षा है, वह भी करता रहा, तो इन सब स्थितियों के कारण मेरा जुड़ाव उन बुनियादी सवालों से बना, जो सवाल हमारे सामने आते हैं। ये जो सवाल आते हैं, क्या हम उनको संबोधित कर पाते हैं? यही विचार करने की बुनियादी बात है।

नंद : ये सवाल जिस ढंग से हमारे सामने आते रहे हैं, क्या हमारे लेखक उन्हें ठीक से डील कर पाते हैं, जैसे सांप्रदायिकता पर आपने पहले भी लिखा है, कृष्णचंदर से आप सीखते रहे हैं, और भी बड़े लेखकों ने इस ओर ध्यान दिलाया है, कृष्णा सोबती ने अपने ढंग से इस समस्या पर लिखा है, मुंशी प्रेमचंद तो शुरू से इस समस्या को लेकर लिखते रहे हैं, लेकिन आपका जो तरीक़ा है, वह औरों से अलग है, किस तरह आपको इसकी ज़रूरत महसूस हुई और फिर कैसे आपने उसे प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया?

असग़र : मैं यह समझता हूं कि किसी भी लेखन का पहला काम होता है संप्रेषण, पाठक तक बात को पहुंचाना। पाठक जब किसी लेखक को पढ़ना शुरू करता है, तो सबसे पहले उसका रचना की तरफ़ आकर्षित होना ज़रूरी है। अगर आप पाठक को आकर्षित नहीं करेंगे तो वह आपकी रचना नहीं पढ़ेगा। तो आकर्षित करने के जो बहुत से तरीक़े हैं, उनको आज़माना चाहिए। नाटकीयता और द्वंद्व के जो तत्व हैं, उनके अंदर यह बुनियादी बात होती है कि वे पाठक को आकर्षित करते हैं। वह आकर्षण पैदा करने के लिए आपको बार बार नये तरीक़े से कहने और शुरू करने की ज़रूरत होती है। दूसरा, देश के अंदर जो एक बदलाव आया था, उसने इस बात की प्रेरणा दी है कि हम अपनी बात को कहने के जो तरीक़े हैं, उन्हें बदलें। ख़ासतौर से मैं बात कर रहा हूं, इंदिरा गांधी के ज़माने में लगी इमरजेंसी की, हम लोगों के सामने यह चुनौती थी कि अपनी बात को किस तरह से कहा जाये कि हम गिरफ़्त में भी न आयें, और अपनी बात बेहतर ढंग से कह लें, यह एक बहुत बड़ा चैलेंज था और हमारे बहुत से रचनाकार साथी जिन पर अटैक कराये गये जिसकी वजह से बहुत से रचनाकार साथी इस बिंदु पर आकर ठहर गये थे, मैंने कोशिश की थी कि मैं इसको किसी तरह रिज़ॉल्व करूं और उसी कोशिश में किसी ने कहा कि अगर प्रतीकात्मक कहानियां लिखी जायें तो वो बेहतर तरीक़ा होगा और उस समय जो प्रतीकात्मक कहानियां लिखी थीं, वे छपीं भी और लोगों ने पसंद भी कीं। और हद यह कि उसी समय वे रेडियो पर पढ़ी भी गयीं। अब चूंकि प्रतीकात्मक कहानियां थीं और उनमें सत्ता का विरोध जिस रूप में किया गया, वह इस तरह का रहा कि उन पर किसी की पकड़ नहीं बन पायी। तो अपनी बात को नये ढंग से कहने की चुनौतियां और वे प्रयोग मेरे सामने सदैव रहे हैं।

नंद : कुछ कहानियां आपकी ऐसी हैं जो बहस की तरह हैं। उनमें कहानी का जो पारंपरिक तरीक़ा होता है, वह आपने नहीं अपनाया, न वे वैसी घटनापरक या कथानक-प्रधान हैं। कई बार एक चरित्र की तरह उभरती हैं, उनमें परिवेश का चित्रण भी इस तरह का है जैसे किसी एक गांव की कहानी कही जा रही है, तो वह गांव ही जैसे चरित्र हो जाता है। इस तरीक़े से जो आपने प्रयोग किये हैं, उनका कैसा रिस्पोंस या प्रभाव रहा और इसकी आपने किस तरह ज़रूरत महसूस की?

असग़र : मुझे यह लगा कि जैसे पात्र हमारे जिस समाज से आते हैं, वे एक से नहीं हैं, किसी एक समय के नहीं हैं, स्वयं पात्र हमारा समय बन जाता है, समय की वैसी स्थितियां बन जाती हैं, पर्यावरण बन जाता है, स्थान बन जाता है, तो इस प्रकार से वह एक पात्र नहीं रह जाता, बल्कि वह एक प्रवृत्ति में बदल जाता है। तो यह उसको एक प्रवृत्ति में बदलने की व्यापक कोशिश है। यह किसी एक पात्र की कहानी नहीं होती, वह हम सब की कहानी हो जाती है, हमारे समाज की कहानी है, देश की कहानी है। तो इस तरह से नायक जो है, वह एक पात्र नहीं है, वह पूरा परिवेश है।

नंद : नाट्य लेखन के क्षेत्र में जब आप सक्रिय हुए और आपका पहला नाटक 'वीर गति' सामने आया, और उसके बाद जो दूसरा नाटक आया 'इन्ना की आवाज़'। उसका परिवेश भी बदला हुआ है और शोषण का जो एक बड़ा मुद्दा हम सबके सामने चिंता का रहा है उस सामंतवादी ज़माने में उसकी ओर भी आपने ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया है, उसके बाद आपने सांप्रदायिकता के मुद्दे पर और गहराई से अपना ध्यान केंद्रित करते हुए 'जिस लाहौर नइ देख्या --' जैसा महत्वपूर्ण नाटक लिखा, जो ख़ूब लोकप्रिय हुआ, तो उसके पीछे किस तरह की सोच रही, किस बात ने आपको प्रेरित किया और उन नाटकों के रिस्पोंस को आप किस तरह देखते हैं?

असग़र : यह जो नाटक 'जिस लाहौर नइ देख्या ओ जन्म्या ई नइ' जब मैंने लिखा, तो उसके पीछे बड़ी रोचक बात रही। मैंने अक्सर देखा है कि किसी भी रचना को लिखने के बीज आपको अपने परिवेश और समय में मिलते हैं। बिना बीज के पेड़ का होना असंभव है। तो 'जिस लाहोर नइ देख्या—' के लिखे जाने की पृष्ठभूमि की बात करूं तो आप जानकर आश्चर्य करेंगे कि इसके बीज मुझे कहां से मिले? इसके बारे में मैंने अन्यत्र लिखा भी है। उर्दू के एक पत्रकार हुआ करते थे संतोषकुमार जी, जो लाहौर के थे और दिल्ली में जो उर्दू का 'प्रताप' अख़बार निकलता है, उसके संपादक थे, तो वे लाहौर गये थे किसी डेलीगेशन में, और डेलीगेशन से लौटकर उन्होंने उस पर एक पुस्तक लिखी थी, *लाहौरनामा*। वह पुस्तक मैंने देखी नहीं थी। एक दिन दिल्ली जर्नलिस्ट यूनियन के कार्यालय में संतोषकुमार जी मिले और बोले कि मैं आपको अपनी पुस्तक की तीस पंक्तियां सुनाना चाहता हूं। वे गर्मी के दिन थे और मैं बड़ा थका हारा परेशान सा पहुंचा था कि घंटा भर आराम करूंगा, पर उनके आग्रह का मान रखते हुए मैं उनसे वे पंक्तियां सुनने को तैयार हो गया। उन पंक्तियों में उन्होंने एक ऐसी हिंदू बूढ़ी महिला का ज़िक्र किया था, जो विभाजन के बाद भारत नहीं आयी, अपने मोहल्ले में ही रह गयी थी। उसका बहुत सहयोगी स्वभाव था कि आसपड़ोस के सारे लोग उसका ख़याल रखते थे। यह प्रसंग एक बीज रूप में मेरे सामने आया, और तत्काल एक नाटक की रूपरेखा मेरे ज़हन में बननी शुरू हो गयी और मैं यह भूल गया कि मैं थका हुआ हूं, मुझे पानी पीना है याकि मुझे कुछ खाना है, और मैंने चलते-चलते उन से कहा कि आपने मुझे इतना बड़ा ख़ज़ाना दे दिया है कि जिसकी कल्पना करना कठिन है। तो वे बोले कि ऐसा क्या हुआ, इस पर मैंने यही कहा कि यह मैं आपको बाद में बताऊंगा। जब हबीब तनवीर इस नाटक की रिहर्सल कर रहे थे तो उस वक़्त मैंने संतोष जी से कहा कि चलिए आपको मैं वह चीज़ दिखाता हूं। जो बीज आपने मुझे दिया था, वह कहां पहुंचा यह मैं आपको दिखाना चाहता हूं। तो उन्होंने देखा और बहुत प्रसन्न हुए, तो उस एक प्रसंग से इस नाटक की रचना हुई। तो मेरे कहने का आशय है कि हर नाटक या रचना के साथ यह होता है और यही इस नाटक के साथ हुआ और मुझे बिल्कुल आशा नहीं थी कि

यह नाटक इस प्रकार से इतनी लोकप्रियता प्राप्त करेगा। क़रीब तीस साल हो गये इस नाटक को लिखे हुए, विश्व के अनेक शहरों में इसके शो हुए हैं, और आज भी इसके बहुत शो होते हैं। मेरे लिए यह ख़ुश की बात है कि यह विचार, जिसमें सच्चाई, ईमानदारी और धर्म का जो एक वास्तविक स्वरूप है, वह लोगों के पास इस नाटक के माध्यम से पहुंचता है, यह बहुत ख़ुश की बात है।

नंद : आपको यह जानकर ख़ुश होगी असग़र भाई कि आपके नाटक 'जिस लाहौर नइ देख्या वो जन्म्या ई नइ' के हमारे अपने शहर में भी कई अच्छे प्रदर्शन हुए हैं और कई अलग अलग नाट्य मंडलियों ने इसके प्रदर्शन किये हैं। जैसा आपने बताया, यह नाटक पिछले तीस सालों में देश-दुनिया में बहुत लोकिप्रयता अर्जित कर चुका है और हर शो का बहुत अच्छा रिस्पोंस रहा है। आपके इन नाटकों को लेकर मेरी एक छोटी-सी जिज्ञासा यह भी है कि उस नाटक में जैसे पहलवान का चरित्र है, या 'इन्ना की आवाज़' में जो बीच के अधिकारी हैं, चाहे वे सुपरवाइज़र हैं या राज्य के दूसरे ओहदेदार हैं, यानी राजा अलग और पूरी व्यवस्था को संचालित करने वाले लोग अलग और वहां अपने असंगत व्यवहार के लिए लोगों के सामने जो एक्सपोज़ होते हैं, वे बीच के लोग ही होते हैं, जब कि उस तंत्र को संचालित करने वाला जो असली मालिक है, या वे छिपी हुई ताक़तें, जो असली गुनहगार हैं, वे कहीं पिक्चर में नहीं आतीं। यह नहीं पता लग पाता कि यह जो विभाजन की समस्या पैदा हुई है, उसके पीछे कौन लोग हैं, उनकी मानसिकता क्या थी, यानी क्या यह संभव नहीं है कि कोई रचनाकार उस मूल कारण तक जा पाये ?

असग़र : मेरा ख़याल है कि हर विधा की अपनी सीमाएं होती हैं और उन सीमाओं का अतिक्रमण करना या उसे पार करने की कोशिश, जो उस विधा को ही कमज़ोर बना दे, वह कोशिश नहीं करनी चाहिए। जैसे मान लीजिए कि जो एक गीतकार है, वह गाता है, वह अपने गाने के, अपनी लय के, अपने संगीत के अध्ययन से अपनी कोई बात आप तक पहुंचाना चाहता है, तो उसकी अपनी सीमा है, और उसे उसी तक रहने देना चाहिए। एक कथाकार है, वह किसी ख़ास स्थिति में अपने परिवेश को सामने ला रहा है, उसकी भी अपनी सीमाएं हैं, वह उनके बाहर जा नहीं सकता और यही बात नाटक पर भी लागू होती है। अगर वह उस स्थिति से बाहर जायेगा, या उस समस्या की पड़ताल में जायेगा तो वह नाटक नहीं रह जायेगा, वह कुछ और हो जायेगा। उसे लेख तो नहीं बनाना है, उसे नाटक ही बने रहना है, उसका काम लोगों को सोचने के लिए प्रेरित करना है कि वे सोचें। नाटक अपने आप में कोई समाधान नहीं है, नाटक आपको केवल सोचने की एक दिशा दे सकता है। और हम देखेंगे कि उसे देखने वाले दर्शक या पाठक इतने जागरूक हैं जो उससे सही नतीजे तक पहुंचेंगे। पूरी परिस्थिति या समस्या का कोई समाधान पेश करना, यह नाटककार या रचनाकार का काम नहीं है।

नंद : समकालीन कथा साहित्य में आपका जो बड़ा योगदान माना जाता है, वह कहानियों के साथ आपके उपन्यासों के माध्यम से और बेहतर ढंग से संभव हुआ है। *सात आसमान* जैसा आपका बड़ा उपन्यास सामने आया, *कैसी आगि लगाई, बरखा रचाई धरा अंकुराई* और *मन माटी* जैसे उपन्यास सामने आये, जबकि कहानीकार के रूप में आपने कई नये प्रयोग किये हैं, आपकी छोटी कहानियां ख़ूब लोकप्रिय रही हैं। पाठक के मानस पर सीधा असर करने वाली ऐसी कहानियां लिखते हुए उपन्यास जैसी विधा की ओर जाने की ज़रूरत किसी लेखक को कब महसूस होती है और कब कोई यह महसूस करता है कि अब उसे किसी बड़े फलक पर काम करना चाहिए?

असग़र : मेरा मानना है कि कोई लेखक एक विधा या एक विषय तक सीमित नहीं होता है। विषय बदलते हैं, और बदलते विषयों के साथ उनका रूप भी बदलता है। बहुत से विचार ऐसे आते हैं कि जिन पर आप कहानी लिख सकते हैं, कुछ विषय और उनका परिवेश इतना फैला हुआ होता है कि उस पर आप उपन्यास ही लिख सकते हैं, उस पर अगर आप कहानी लिखेंगे तो वह शायद काफ़ी न हो। इस प्रकार से जो कंटैंट है वह फ़ॉर्म को निर्धारित करता है। मेरे लेखन में भी जो अलग अलग कंटेंट आते रहे, वही बताते रहे कि हम किस फ़ॉर्म में सामने आयेंगे। उन्हें

जिस फ़ॉर्म में आना था, वे अगर उसमें न आते तो पता नहीं उनका क्या रूप होता। जहां तक मेरे उपन्यास, *सात आसमान* के बारे में आपने कहा, मैंने तो उसे एक ग़ैर-परंपरावादी ढंग से लिखा है, मैंने उसे आधे से ज़्यादा लिखा और लिखकर छोड़ दिया। उसे लिखते हुए मुझे लगा कि मैं यथार्थ यानी सचाई को कहानी बना रहा हूं, जबकि मेरी कोशिश यह रहती है कि कहानी सीधे सीधे यथार्थ में न जाये, जो मुझे कहना है, उसे कम से कम में ठीक से कह दूं ताकि जो सचाई है, उसकी साख बनी रहे। वह सचाई कहानी या उपन्यास में ढलकर कहीं काल्पनिकता के नज़दीक न पहुंच जाये।

नंद : यह जो अपने कथा लेखन में आप जिसे आख्यान कहते है, इसका थोड़ा खुलासा कीजिए, यह कथा के तयशुदा रूपविधान से किस तरह अलग है, और लोगों ने इसका किस रूप में प्रयोग किया है, जबकि मुझे लगता है कि आपके आख्यान की कुछ अलग पहचान है?

असग़र : धीरे धीरे हुआ यह कि एक क़िस्म की काल्पनिक कहानी या उपन्यास में मेरी रुचि कम होती गयी है और मुझे यह लगा कि ये जो हमारे कहानी और उपन्यास लिखने के फ़ॉर्म हैं, एक प्रकार से अब बहुत पुराने पड़ गये हैं, उसमें वह मज़ा नहीं रहा, जो पहले कभी हुआ करता था, हो सकता है कि बहुत लोगों को अब भी उतना ही मज़ा आता हो, लेकिन मुझे लगा कि फ़िक्शन और नॉन-फ़िक्शन को मिलाकर कुछ ऐसा प्रयोग किया जाये। तो बाकर एम सैयद की एक खोज है, पुराने इतिहास के पात्रों में से एक खोज, लेकिन उस खोज के बहाने जो समय सामने आता है, और जिनकी खोज की जा रही है, वे तो सामने नहीं आते, लेकिन उन पात्रों के स्थान पर कुछ दूसरे पात्र सामने आते हैं, जो बहुत रोचक और मजेदार हैं, उनके माध्यम से आप उनके समय और समाज को समझ सकते हैं, तो यह एक प्रकार से सांस्कृतिक इतिहास बनता है, जो आपको ढाई सौ तीन सौ साल के समय के लोगों के जीवन और उनकी समस्याओं और चिंताओं की जानकारी कराता है।

नंद : आपने एक भ्रमणशील लेखक के रूप में दुनिया के कई देशों की यात्राएं की हैं और उसकी उपलब्धि हमें इस रूप में मिली कि उसके बहुत अच्छे यात्रा वृतांत हमें देखने पढ़ने को मिले, इन यात्रा अनुभवों का कई कहानियों पर प्रभाव दिखायी देता है, यहां तक कि उपन्यासों और नाटकों पर भी उन यात्राओं का असर दिखायी देता है, जबकि अच्छे यात्रा वृतांत तो अपनी जगह हैं ही, थोड़ी उनकी भी हमें जानकारी दें, उन यात्राओं में कौन सी यात्रा या विदेश प्रवास आपको सबसे अधिक रोचक और महत्वपूर्ण लगा।

असग़र : देखिए, हर यात्रा में कुछ न कुछ तो ऐसा होता है, जो आपको लगता है कि यह बहुत महत्वपूर्ण यात्रा रही। और यात्रा करने का या नयी चीज़ या मुल्कों को देखने का पता नहीं क्यों, एक प्रकार का जुनून सा लगता है मुझे, मेरे अंदर हमेशा से यह इच्छा रही कि मैं नया से नया देखूं, सभी लोग पूछते हैं कि आपकी सबसे बड़ी इच्छा क्या है, तो मैं कहता हूं कि सबसे बडी इच्छा यह है कि इस संसार में जितनी बड़ी जगहें हैं, उन तक घूम आऊं और अधिक से अधिक लोगों से मिलूं। यह एक तरह की व्याकुलता है जो ले जाती है कहीं, ऐसी जगहों पर, जहां लोग नहीं जाते, वहां जाना बहुत रोचक होता है। मैं मिज़ोरम गया तो पूछा कि ऐसी जगह बताइए जहां लोग जाते नहीं हैं। तो उन्होंने कहा कि बंगलादेश की सीमा पर एक गांव है, जहां चकमा आदिवासी रहते हैं, वहां चले जाइए। वह इतना बीहड़ इलाक़ा है कि वहां के जो प्रतिनिधि हैं, वे भी वहां नहीं रहते। तो वहां ऐसा मलेरिया होता है कि उसका कोई इलाज नहीं है, वहां ठहरने की कोई जगह नहीं है, कोई होटल वग़ैरह भी नहीं है, तो ऐसी जगहों पर जाने की और उन्हें जानने की इच्छा रहती है, या ऐसी जगहें जो दुर्लभ हों।

नंद : दो छोटे छोटे सवाल और करूंगा आपसे और उनमें पहला तो यही कि आप बहुत अच्छे शिक्षक रहे हैं, दिल्ली में जामिया मिलिया में काम किया है, हंगरी जैसे देश में आपने हिंदी पढ़ायी है। अपने भ्रमणशील जीवन में अन्य लोगों को भी संस्कृति और मानवीय सरोकारों के प्रति लोगों को जागरूक बनाने का प्रयत्न किया है, मेरी

जिज्ञासा यह है कि एक शिक्षक के रूप में लेखक के काम का निर्वाह किस तरह से संभव हो पाता है? कहां कहां उनमें टकराव होता है, कहां वह उपलब्धिमूलक लगता है?

असग़र : देखिए, आपकी इस बात से तो मैं असहमत हूं कि मैं बहुत अच्छा शिक्षक हूं। (सहज हंसी) अच्छा शिक्षक मैं नहीं हूं --

नंद : पर आपसे पढ़कर निकले बहुत लोग तो यही कहते हैं कि वे आप जैसे अच्छे शिक्षक से पढ़े हैं और यह उन्हीं की राय है। (हंसी)

असग़र : असल में पढ़ाई पूरी करने के बाद मैं यह ज़रूर चाहता था कि कोई चुनौती भरा काम करूं और शिक्षक के काम को लेकर मैं ऐसा मानता था कि यहां रोज़ कोई नयी चुनौती मिलेगी, तो रोज़ नयी चुनौती वाले काम को करने की जिज्ञासा थी मेरे अंदर, जो करना चाहता था, वह तो कर नहीं पाया, लेकिन कुछ न कुछ, कोई न कोई काम तो करना था, तो इस प्रकार से मैं शिक्षक बना, और फिर कोशिश की कि इसे मैं रुचिकर बनाऊं, छात्रों के साथ और अच्छा संवाद हो, तो वह एक कोशिश रही मेरे अंदर। और उससे रचना करने में भी काफ़ी मदद मिली। क्योंकि लिखने पढ़ने के काम से रचना का काम जुड़ा हुआ है, और दूसरी बात यह कि छात्रों के साथ संवाद का जो हमारा जीवन था, तो उन दोनों के बीच अच्छा तालमेल बिठाने का प्रयास किया। अगर मैं कोई दूसरी नौकरी करता तो शायद इतना अच्छा तालमेल न बैठा पाता।

नंद : इधर जिस तरह का माहौल है और जिस तरह की चेतना विकसित करने की ज़रूरत हम महसूस करते हैं, उसमें लेखक के ज़िम्मे भी बहुत सा काम आता है, आप स्वयं जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं और प्रगतिशील विचारधारा के साथ आपका वर्षों से गहरा संबंध रहा है, यहां तक अपने कॉलेज जीवन के दिनों से, जब आप एएमयू में पढ़ते थे, प्रगतिशील काव्य धारा पर आपकी पीएचडी है, बल्कि उस ज़माने में सीपीएम के मेंबर के रूप में चुनाव भी लड़ा, राजनीतिक दृष्टि से जिस तरह की जागरूकता आपके साथ रही है, आपके इस लंबे अनुभव को देखते हुए हम जानना चाहते हैं कि इस सारे माहौल में, हालांकि ज़िम्मेदारी तो हर देशवासी की है, लेकिन लेखकों पर किस तरह की ज़िम्मेदारी आप अनुभव करते हैं, संगठन क्या कुछ कर सकते हैं और इस दृष्टि से आपके क्या सुझाव हैं?

असग़र : ये लेखक और संगठन बहुत कुछ कर सकते हैं, लेकिन शायद कर नहीं पाते हैं। और हम लोगों की और लेखक संगठनों की भूमिका बहुत सीमित हो गयी है, जबकि लेखक संगठनों की भूमिका को सीमित नहीं होना चाहिए, कुछ सौ लोगों के बीच में पत्रिकाएं भी पहुंचती हैं, और बाक़ी जो व्यापक जन समूह है, उससे हमारा कोई संवाद बनता नहीं, सबसे बड़ी समस्या हमारे देश में यह है कि जो जागरूक बुद्धिजीवी समाज है, उसका संवाद इस व्यापक जनसमुदाय के साथ नहीं है, यहां जितने लोग बैठे या गोष्ठियों में जितने लोग आते हैं, उसमें निरंतर कमी आयी है, लेखक संगठनों को और जागरूक लोगों को जैसे प्रयास करने चाहिए थे, वैसे नहीं हो पाये हैं, वह व्यापकता नहीं बन पायी। जबकि हमारे ही देश में दूसरी भाषाओं के लेखक और साहित्यकार बहुत बड़े स्तर पर काम करते हैं, मान लीजिए मराठी में या कन्नड़ में या मलयालम में, जो सक्रियता है, वह मध्य भारत के हिंदी क्षेत्र में नहीं दिखायी देती।

नंद : असमिया में मैंने देखा है कि वहां के साहित्यकार बहुत संगठित ढंग से कार्य करते हैं। असम साहित्य सभा का जैसा व्यापक प्रभाव जनता के बीच दिखायी देता है, उस तरह का प्रभाव हिंदी साहित्य लेखन का यहां के समाज के बीच क्यों नहीं दिखायी देता, क्या कठिनाई है आखिर ? हिंदी लेखक की ऐसी क्या सीमाएं हो गयी हैं कि वह अपने समय और परिवेश में उस तरह से सक्रिय नहीं हो पाता?

असग़र : देखिए हिंदी समाज का अध्ययन करना बड़ा रोचक होगा, और यह अध्ययन कम से कम सन् 1857 से शुरू करना चाहिए। अगर 1857 से यह अध्ययन शुरू किया जाये तो बहुत महत्वपूर्ण, बुनियादी और रोचक तथ्य

सामने आयेंगे। हिंदी समाज एक ऐसा समाज है जहां पर अभी तक जो परिवार की भाषा और समाज की भाषा है, उसमें अंतर आप देख सकते हैं, जब कि यह मलयालम में या कन्नड़ में आप नहीं देख सकेंगे। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार से एक हिंदी चेतना को आगे बढ़ना चाहिए था, उसमें समय लग रहा है, वह अभी आगे बढ़ने की प्रक्रिया में है। तीसरी बात यह है कि जो सन 1857 के बाद आजादी का संघर्ष चला, उसमें अंग्रेज़ों से हमारी पराजय के क्या कारण रहे, तो उन कारणों में दुर्भाग्य से एक कारण जो है वह संगीत ही को मान लिया गया, यह रहा कि हमारा समाज तो गाने सुनता है, हमारा समाज तो संगीत में डूबा हुआ है, हमारा समाज तो इस प्रकार के काम करता है। तो संगीत नृत्य उस मध्यम वर्ग या उच्च मध्यम वर्ग के आदमी को हालात से उदासीन बनाये रखता था। शायद इसी वजह से हिंदी प्रदेश में चेतना या जागरण का स्तर थोड़ा और नीचे चला गया। आपको *जुनून* फ़िल्म का वह दृश्य ज़रूर याद होगा, जब उसमें एक क्रांतिकारी है नसीरुद्धीन शाह, उसकी वह सेना हार जाती है, और वह भागकर अपने घर पहुंचता है और देखता है कि उसका भाई जो है वह कबूतर उड़ा रहा है, तो वह उस कबूतरख़ाने को तोड़ देता है और चिल्लाता है कि हम कबूतर उड़ाते रहे, गाने सुनते रहे, हम यह करते रहे, वह करते रहे, तो हिंदी प्रदेश के जो लोग हैं, वे पराजय के बोध से इतने ज़्यादा दबे रहे, तो उनकी संस्कृति पूर्ण रूप से विकसित होकर सामने आ ही नहीं पायी, जबकि अहिंदी प्रदेश जो 1857 की क्रांति की गिरफ़्त में नहीं थे, वहां आप देखेंगे कि सांस्कृतिक चेतना का स्तर दूसरी तरह का रहा।

नंद – आपका तहेदिल से शुक्रिया असग़र भाई कि आज आपसे आपकी ज़िंदगी और अदबी सफ़र के बारे में इतनी तसल्ली और तफ़सील से बात हो सकी, मेरा ख़याल है, आपके पाठकों और साहित्य में दिलचस्पी रखने वालों को इसके माध्यम से बहुत सी नयी और काम की बातें जानने समझने को मिली हैं, आपका हार्दिक आभार।

मो0 नंद भारद्वाज : 9829103455

मो0 असग़र वजाहत : 9818149015

रचनाकारों से विनम्र अनुरोध

नया पथ के लिए रचनाएं भेजते समय रचनाकार कृपया निम्नलिखित सुझावों पर ध्यान दें :

1- *नया पथ* में रचना भेजने से पहले अपनी रचना दो बार पढ़ लें, भाषा की अशुद्धियां होने से रचना अस्वीकृत करनी पड़ती है

2- *नया पथ* में रचना भेजते समय लेखक उर्दू के अल्फ़ाज़ में सही तरह से नुक़्ते का इस्तेमाल करें, इसके लिए हमारे पहले के प्रकाशित अंक देख सकते हैं। गूगल पर भी देख सकते हैं, उर्दू-हिंदी डिक्शनरी से भी मदद ली जा सकती है।

3- रचना ईमेल के साथ संलग्न करके ही भेजें, सीधे ईमेल में टाइप रचनाएं स्वीकार्य नहीं होंगी। व्हाट्सऐप, या स्कैन की गयी या पीडीएफ़ से भेजी गयी रचनाएं भी स्वीकार नहीं की जायेंगी। सिर्फ़ एम एस वर्ड में हिंदी यूनीकोड में टाइप करके रचना भेजें

4- *नया पथ* हिंदी की व्याकरण सम्मत वर्तनी का इस्तेमाल करता है, इसलिए 'यह' और 'वह' का प्रयोग एकवचन क्रिया के साथ और 'ये' तथा 'वे' का प्रयोग बहुवचन क्रिया व आदरसूचक कर्ता के साथ करें, उदाहरण के लिए 'ये बात है' को हम ग़लत मानते हैं, 'वह कहते हैं' भी ग़लत प्रयोग है, 'वो' का प्रयोग करने से बचें।

5- कुछ ऐसे शब्द जिनके अंत में 'या' लगता है, जैसे नया, आया, गया, रुपया लिया, दिया, उनके दूसरे रूपों में भी 'ये' 'यी' का ही प्रयोग करें, यानी नये,नयी, आये, आयी, आयें, गये, गयी, गयीं, 'रुपये लिये दिये' ('हमारे लिए' सही होगा, 'इसलिए' भी सही होगा, यहां 'लिए' में 'ये' का प्रयोग ग़लत होगा),

5- हम चंद्रबिंदु की जगह अनुस्वार का ही प्रयोग करते हैं, इसी तरह से आधा 'न' आधा 'म' और आधा 'ण' का प्रयोग उन्हीं शब्दों में करते हैं जिनमें वह अनिवार्य है, अन्यथा अनुस्वार से ही काम चलाते हैं, मसलन 'संबंध' में आधे म या न का प्रयोग नहीं करते, लेकिन 'अम्मा' में या 'उन्हें' में करना पड़ेगा, 'मण्डल' की जगह 'मंडल' लिखें, लेकिन 'कण्व' रखना पड़ेगा।

6- कोटेशन मार्क में सिंगल कोट का ही प्रयोग करें

7- पुस्तकों, पत्रिकाओं व फ़िल्मों के नाम इटैलिक में लिखें, फुटनोट कोटेशन के साथ ही कोष्ठक में दें।

8- रचना भेजते समय यह ज़रूर लिखें कि यह रचना नितांत मौलिक और अप्रकाशित है, इसे फ़ेसबुक, व्हाट्सऐप या वेबसाइट पर संचारित नहीं किया गया है। रचना प्रकाशित होने के बाद ही इन माध्यमों पर प्रचारित प्रसारित करें, पहले नहीं।

नया पथ की इस वर्तनी का ध्यान रखेंगे तो संपादकीय टीम को सामग्री संपादित करते समय कम कठिनाई होगी, भाषा और वर्तनी सुधारने में नाहक समय बर्बाद होता है। संपादकीय टीम पूरी तरह अवैतनिक है, और मिशनरी उत्साह से सारे साथी अपना समय देते हैं, इसलिए हमारे रचनाकार दोस्त भी सहयोग करें तो आसानी रहेगी।